गुरु सन्देश

हम गुरु सन्देश सुनाते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।
यह परम लाभ की बातें है, इसको सब कोई क्या जाने।।
ऐसा जग में संयोग नहीं, हो जिसका कभी वियोग नहीं।
ऐसा कोई सुख भोग नहीं, जिसके पीछे दुःख रोग नहीं।
भोगी बन सब पछताते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।
है सफल उसी का नर जीवन, जो रहता जग में त्यागी बन।
जिसने जीता है अपना मन, दैवी सम्पत्ति ही जिसका धन।
वे महापुरुष कहलाते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।
धन पाकर जो दानी न बने, जो सरल निरभिमानी न बने।
जो ईश्वर का ध्यानी न बने, जो आत्म तत्व ज्ञानी न बने।
वह जीवन व्यर्थ बिताते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।
जो व्यक्ति वस्तु का दास नहीं, दोषों का जिसमें बास नहीं।
जिसमें दुर्व्यसन विलास नहीं, दुःख आते उसके पास नहीं।
वह 'पथिक' महद् पद पाते हैं, इसको सब कोई क्या जाने।।

ॐ श्री परमात्ने नमः

सन्त दर्शन

लेखकः
श्री श्री 108 स्वामी पथिक जी महाराज

प्रकाशकः
श्री स्वामी पथिक अखिल भारतीय दातव्य सेवा समिति
28, विधान सभा मार्ग, लखनऊ—226 001

मूल्य :

''श्रद्धा वही सुन्दर है जहाँ अहंकार समर्पित है।
ध्यान के साथ धैर्य रक्खो, चाहे जब मिले।
जब तक मोह है तब तक लोभ नहीं छूटेगा।
सद्‌गुरु के भक्त वही हो पाते हैं।
जो फल की आकांक्षा के त्यागी हैं
चाह से रहित हैं।''

जिससे कोई भूल न हो, भगवान वहीं है।
भूल हो, भूल का मान न हो, हैवान वही है।।
भूलों के रहते चित्त में, जिसको चैन नहीं आये।
अपना सुधार करता जाये, इन्सान वही है।।
आसुरी प्रकृति वह, जहाँ भूल का दुःख नहीं होता है।
जो भूल देखने दे न कहीं, अभिमान वही है।।
जो हानि देखनी पड़ती, वह सब भेंट भूल की हैं।
जो भूल करे वह भोगे, प्रकृति का विधान वही है।।
यह सारी भूल भोग सुख की, तृष्णावश ही होती है।
बस 'पथिक' जो कि तृष्णा तज दे, गतिमान वहीं है।।

संस्करणः 2016

पुस्तक मिलने का पताः

डॉ0 ताराचन्द क्लीनिक,

, 28, विधानसभा मार्ग, हुसैनगंज, लखनऊ–226001
मो0 9415062640

विषय सूची

विषय **पृष्ठ संख्या**

विविध योग की आवश्यकता

- ✓ शरीर पर आसनों का प्रभाव
- ✓ आसनों द्वारा उपचार
- ✓ उष्ण प्राणायाम
- ✓ ठण्डा प्राणायाम
- ✓ शीतली प्रणायामा
- ✓ भस्त्रिका प्राणायामा
- ✓ सन्त वचन
- ✓ प्रेरणा

सत्सवां योग

- ✓ यथार्थ दर्शी

सद्विवेक योग

ब्रह्मचर्य योग

- ✓ बुद्धि दृष्टि का सदुपयोग

सेवायोग

- ✓ निरीक्षण

साधन सुयोग

- ✓ चेतावनी
- ✓ निष्काम जीवन
- ✓ जाग्रति सन्देश

अभ्यास योग

शास्त्रीकृ अन्तर तत्व विज्ञान योग

✓ चौदह त्रिपूरी जाग्रत अवस्था की

✓ नाभि व उनके कार्य

भक्ति योग

✓ भक्ति योग में श्रवण का महत्व

✓ परमार्थ

हरिनाम संकीर्तन योग

✓ बुद्धि दृष्टि का सदुपयोग

जपयोग

✓ जप के प्रकार

✓ रस की निस्सारिता

बुद्धि योग

साधना मय जीवन के कर्त्तव्य

ॐ श्री परमात्मने नमः

सन्त

(लेखक—पलक निधि 'पथिक')

सन्त का दर्शन मनन सत्य का दर्शन मनन है। सन्त की उपासना सत्य की उपासना है। सन्त की स्तुति सत्य की स्तुति। जिस मानव मूर्ति में उच्चतम ज्ञान के साथ उत्कृष्ट प्रेम एवं निर्लिप्तता, निर्द्वन्दता, निर्भयता और स्थिर शान्ति का दर्शन मिलता है, उसी को बुद्धिमान विवेकी पुरुष सन्त कहते हैं।

जिस शरीर में, वाणी में, मन में पुण्य पवित्रता प्रकाशित रहती है, जो नित्य प्रसन्न और आत्म—तृप्त रहते हैं, वही महापुरुष सन्त कहे जाते हैं।

जिनके अन्तःकरण में किसी प्रकार की भोग लालसा नहीं उत्पन्न होती, क्षमा, दया, उदारता, विराग, विवेक, शम, दम, तितिक्षा, सरलता, परोपकारिता, निरभिमानता यही जिनकी सम्पत्ति है वह संसार में सर्वश्रेष्ठ सन्त हैं।

सन्त के प्रति जो सर्वोच्च आदर है, पूज्य भाव है, श्रद्धा है, वह उनमें प्रतिष्ठित ज्ञान, पवित्रता, क्षमता, उदारता, त्याग अहिंसा, सत्यता, स्वाधीनता आदि के प्रति है, जो शाश्वत आत्मा के गुण हैं। सावधान

मानव जब सन्त के आगे नत मस्तक होकर प्रणाम करता है, वह इन्हीं दिव्य गुणों के प्रति करता है।

अपने कल्याण के लिए सन्त की आज्ञा पालन करना ही सन्त सेवा है और सन्त सेवा ही विश्वरूप भगवान की सेवा है।

सन्त सभी अवस्थाओं, सभी परिस्थितियों एवं जातिपांति अथवा ऊँचनीच के भेद से ऊपर उठकर प्राणिमात्र से प्रेम करते हैं। सन्त के द्वारा ही संसार को सत्य का अथवा महत्तम गुण ऐश्वर्य का ज्ञान हुआ करता है। इन्हीं के द्वारा संसार में परमेश्वर की परम कृपा उतरती है। इन्हीं सन्त महात्मा एवं सत्पुरुषों के द्वारा मानव जगत को सत्प्रेरणाएं मिलती चली आ रही हैं, प्रकाश मिलता आ रहा है, और आगे भी इसी तरह मिलता रहेगा।

प्रायः प्रत्येक मनुष्य के सामने कोई न कोई आदर्श होता है, और आदर्श में जैसे भी गुण–कर्म–स्वभाव होते हैं, उन्हीं का मनुष्य पर प्रभाव भी पड़ता है; क्योंकि मनुष्य हृदय से जिस आदर्श को स्वीकार कर लेता है, उसी के प्रति उसकी प्रीति होती है, उस आदर्श की आज्ञानुसार ही वह चलता है तथा उसी की प्रेरणानुसार कर्म करता हुआ तद्नुरूप ही फल का भोक्ता बनता है। जिस मनुष्य का आदर्श पवित्र है, सत्य एवं सुन्दर है, वही शुद्ध कर्मों की हितप्रद प्रेरणा पा सकता है। प्रेरणा के बिना जीवन पंगु सा होता है और ज्ञान के बिना प्रेरणा भी अंधी होती है। अतः बुद्धिमान मानव तभी सौभाग्यशाली

समझा जायेगा जबकि वह यथार्थ ज्ञानी सत्पुरुष की प्रेरणा प्राप्त कर सके।

यही कारण है कि हमारे धर्मशास्त्र सबसे प्रथम माता–पिता की आज्ञा का पालन करने की प्रेरणा देते हैं, तत्पश्चात् विद्यागुरु कुलगुरु की आज्ञानुसार चलने की सम्मति देते हुए अन्त में पारमार्थिक सद्‌गुरु की आराधना को परमावश्यक बतलाते हैं। सद्‌गुरु की आज्ञा का पालन कोई श्रद्धालु व्यक्ति ही करता है और श्रद्धा की दृढ़ता तब होती है, जबकि सन्त महापुरुष की गुण–गरिमा माप–तौल करने में असमर्थ होकर मानवीय बुद्धि मौन धारण कर लेती है। श्रद्धा के विकास के लिए सन्त महान् पुरुषों के आदर्श चरित्रों का श्रवण–मनन परमावश्यक एवं सहायक है। प्रस्तुत पुस्तक में आदर्श सन्त परमहंस श्री नागा निरंकारी जी महाराज के जीवन चरित्र का यथाशक्ति वर्णन किया जा रहा है। अतः प्रेमी पाठकों को सावधान होकर सद्‌गुरुदेव के पावन चरित्र से आदर्श शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, अपनी लघुता को उनकी गुरुता से निवृत्त करते हुए अपने समग्र जीवन को गौरवान्वित करना चाहिए। श्री गुरुदेव के शरणापन्न हो उनकी समीपता प्राप्त कर अपने लघुतर जीवन को गुरुतर बनाना ही सच्ची गुरुभक्ति है। ध्यान रहे– यहाँ समीपता का अर्थ गुरुदेव के शरीर के साथ रहना मात्र नहीं है; क्योंकि शरीर के साथ रहकर भी मन यदि किसी अन्य का मनन करता रहा, बुद्धि जगत्प्रपंच में ही विचरती रही, तब तो वास्तविक कल्याण न होगा। वास्तव में गुरुदेव के आदर्श सद्‌गुणों का

मनन करते रहना, उनके सद्भावों का ही चिन्तन करना, तथा उनके पारमार्थिक गहन ज्ञान में अपनी बुद्धि को स्थिर रखना ही सद्गुरुदेव की सच्ची समीपता है। ऐसी समीपता शरीर से दूर रहने पर भी कल्याणकारिणी होती है। वास्तव में मन से भक्त होना ही सच्चा संग है और मन से विभक्त रहना ही असंगता है। मन जिससे मिलता है, उसी का उस पर प्रभाव भी पड़ता है।

अतएव बुद्धिमान मानव समाज को जो सन्त महापुरुष सद्गति, सत्यप्रेरणा एवं प्रकाश के दाता है, उन्हें पहिचाने, और उनका अनुगमन करें। क्योंकि वीतराग परमज्ञानी महात्माओं के द्वारा ही मानव जाति का परमहित सम्भव है। सन्त महात्माओं का जीवन चरित्र प्रायः अद्भुत एवं अलौकिक घटनाओं से पूर्ण होता है। उनके अद्भुत चरित्र दर्शन पठन एवं मनन से सत्प्रेरणा और ज्ञान की प्राप्ति होती है। सन्तों की आज्ञा पालन से मानव को सद्गति परमगति तथा परमशान्ति का योग सिद्ध होता है।

अब हम सन्त सद्गुरुदेव के उस चरित्र के वर्णन का प्रयास कर रहे हैं जिसे हमने श्री नागा निरंकारी परमहंस जी के नाम रूप में देखा तथा सुना है। यह सन्त चरित्र हम जैसे दुर्बलों को सुन्दर बल का, अशक्तों को शक्ति का, जिज्ञासुओं को सत्ज्ञान का, भाव प्रधान व्यक्तियों को भक्ति का, मोह भ्रान्तों को प्रेम का, एवं बद्धों को मुक्ति का सन्मार्ग दिखाने वाला है।

परमहंस श्री नागाजी महाराज की भव्य ओजस्वी मनोहर मूर्ति को मैंने पहिले तो इन नेत्रों से देखा फिर परमहंस जी की कृपा से ही जैसे–जैसे मेरी बुद्धिरूपी दृष्टि खुलती गई वैसे ही वैसे उनके दिये हुये ज्ञानरूपी प्रकाश में, जहाँ तक वे अपने रूप को दिखाते गये मैं देखता ही गया और अब तक देखता ही जा रहा हूँ। मैंने यह भी देखा कि जैसा उनका नाम–सन्त सद्गुरु नागा निरंकारी है, उसके अनुसार ही उनके जीवन का स्वरूप भी है। ये जगत के द्वन्दात्मक संघर्ष को पारकर नित्य–शान्त पद में प्रतिष्ठित हैं, इसलिये दर्शक इन्हें 'सन्त' कहते हैं।

ये संसार की किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति से स्वरूपतः नहीं तुल सकते प्रत्युत इनकी ही गुरुता से जगत् तुलता रहता है। इनकी शरण लेने पर ही मायाबद्ध मानव की लघुता एवं बद्धता दूर होती है; ये शरणागत शिष्य को अपनी गुरुता प्रदान कर उसे भी गुरु बना देते हैं; ये सधर्म का उपदेश देते हुए अज्ञान तिमिर नाशक, ज्ञान के प्रकाशक, सिद्धिदाता, पापनाशक एवं जीव को शिव तत्त्व से मिलाने वाले हैं, इसलिये ही इन्हें ''गुरुदेव'' कहते हैं। इन महान पुरुष में नीर–क्षीर की भाँति मिले हुए माया और ब्रह्म तत्त्वों को विलग कर देखने की योग्यता है, यह महानुभाव इस असत् जगत् के आधार सत्य–तत्त्व का ही सर्वत्र अनुभव करते हैं। इसीलिए सब लोगों ने इन्हें परमहंस माना है। ये जीवनमुक्त सन्त अपने सत्य स्वरूप में रहकर

नाम–रूप के मिथ्याभिमान रूप आवरण से मुक्त हैं इसलिये इन्हें नग्न नागा नाम से सम्बोधित किया जाता है।

ये परम स्वतंत्र योगिराज देही आकार–प्रकारमयी सीमा से बद्ध न रहकर अपने को समस्त विश्व की आत्मा अनुभव करते हुए परमात्मा के अभेदानुभव में परमानन्दित रहते हैं अतएव यह निरंकार (निरहंकार) पद से विभूषित हैं। प्रेमी पाठकों को हमारे चरितनायक श्री सन्त नागाजी के चरित्र में यह विशेषता दिखाई देगी कि–इनके शरीर, मन एवं मस्तिष्क की क्रियाओं में अधिकाधिक समता तथा ऐक्य है। इसलिये इनका व्यक्तित्त्व, आदर्श, महत्ता से विभूषित और समुज्जवल है। श्री परमहंस जी ने संसार की जो उच्चतम सेवायें की हैं वे बाहरी ऐश्वर्य बल से नहीं वरन् आन्तरिक तपोबल तथा ईश्वरीय गुण–ज्ञान के योग से की है।

यह शान्ति की साकार मूर्ति, जहाँ कहीं भी रहती थी, वहीं प्रेम स्नेह एवं शान्ति का वातावरण बना देती थी। इनकी असाधारण जितेन्द्रियता, पवित्रता, तथा इनके वीरोचित तेज का प्रभाव प्रत्येक दर्शक पर किसी न किसी रूप में अवश्य ही पड़ता है। यह सर्वथा अहंकाररहित, गर्वशून्य तथा किसी के साथ भलाई करने पर भी निर्गर्व, परम दयालु अत्यन्त सरल हैं। अब हमें यह देखना है कि श्री सन्त सद्गुरुदेव की प्रत्येक क्रिया के पीछे किस प्रकार संयम द्वारा प्राप्त शक्ति का योग रहता है, साथ ही शक्ति से सदुपयोग के लिये

किस प्रकार दिव्य विवेक अथवा विशुद्ध ज्ञान प्रकाश की भाँति कार्य करता है?

एक विशेष बात और है, – वह है हमारे दृष्टिकोण की। हम लोगों को सन्त चरित्र का अध्ययन करते समय सावधानी के साथ अपना दृष्टिकोण ठीक रखना चाहिये जिससे कि चरित्र के मनन द्वारा उचित प्रेरणा और प्रकाश लेने में भूल न हो।

वास्तव में सन्तों के चरित्र की महत्ता उनको किसी प्रकार की आधिभौतिक सफलताओं के कारण अथवा उनके द्वारा नव रहस्यों के निर्माण के कारण नहीं है, प्रत्युत सत्याधार तथा परम शान्ति की खोज में, सद्‌गुणों के उच्चतम विकास तथा आत्मा को पूर्ण बनाने वाली प्रगति से ही प्रकट होती है।

सन्तजन स्वभाव से ही त्यागी, ज्ञानी एवं प्रेमी होते हैं। उनमें इस असाधारण त्याग, ज्ञान और प्रेम के कारण ही अलौकिक सौन्दर्य होता है जो प्रत्येक मानव को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस दिव्यता के कारण ही सन्त की समीपता में अनिवर्चनीय शक्ति का अनुभव होता है। आज किसी को भी काषाय वस्त्र धारण किये, मुंडित अथवा जटा विभूषित तथा अन्यान्य विरक्ति परिचायक वाह्य वेष मात्र को देख, सन्त, महात्मा, परमहंस, निर्वाण आदि पद प्रदान कर देने की परिपाटी सी चल पड़ी है। किन्तु बुद्धिमान को ध्यान रखना चाहिये कि अनुकरण यदि सन्त महात्मा के बाह्य वेष की नकल रूप में किया

गया है तो वह धोखा ही है; क्योंकि आकृति तो कुछ क्षण में बनाई जा सकती है; परन्तु भीतरी प्रकृति बनाने के लिये जब कितने ही जन्म प्रयत्न किया जाता है तब कहीं गुरुत्व प्राप्त होता है।

यों तो प्रायः सभी मुमुक्ष गृह त्यागी एवं विरक्तों का वेष इसीलिये धारण करते हैं कि चित्त को शान्ति प्राप्त हो, दुःख बंधनों से छुटकारा मिले, और परमात्मा का योगानुभव हो परन्तु अजितेन्द्रिय होने के कारण तथा अविचारवश त्याग और तप में आलस्य–प्रमाद होने के कारण अधिकांश व्यक्ति मोह, मान, माया में ही भूले रहते हैं। जितेन्द्रिय, तपस्वी, त्यागी एवं ज्ञानी पुरुष ही सन्तपद अथवा गुरुपद को प्राप्त कर पाते हैं। ऐसी महान् आत्माओं का जीवन चरित्र कुछ विलक्षण ही होता है।

हमारे चरित्र नायक श्री सन्त नागा निरंकारी जी महाराज के जीवन चरित्र में भी हमें विशेष विलक्षणता का चतुर्मुखी दर्शन होता है।

आशा है कि हमारे प्रेमी पाठक इस लेखक के नम्र निवेदनानुसार अपने दृष्टिकोण को निर्मल बनाकर इस सन्त चरित्र से सत्प्रेरणाएँ प्राप्त कर प्रकाशमय जीवन बनायेंगे।

सन्त का आविर्भाव

संसार में सर्व साधारण जीव अपने ही सुख प्राप्ति के लिये जन्म लेते रहते हैं किन्तु जो दूसरे के हित में तत्पर दिखाई देते हैं वे ही सन्त महापुरुष हैं। ऐसे सन्त का अवतरण तब होता है जब जगत में कुछ देना होता है, जब जगत को इनके सहयोग की आवश्यकता होती है। सन्त अपने लिये नहीं किन्तु जगत के लिये ही आते हैं, प्राणिमात्र में स्नेह, गुणियों में मुदिता, दुःखियों के प्रति दया और विद्रोहियों में उपेक्षा भाव रखना इनके जीवन की विशेषता होती है। सन्त संसार में आकर माया, अभिमान और मोह से बचकर अपने आध्यात्मिक उत्थान एवं जगत के कल्याणार्थ पवित्र अनुष्ठानों में ही लगे रहते हैं। संसारासक्त व्यक्तियों के लिये जो आपदाएँ हैं, कष्ट हैं उनका ये सन्त सहर्ष स्वागत करते हैं।

सन्त के जीवन में आरम्भ से ही, उदारता, दया, कष्ट, सहिष्णुता, सुखों से अनासक्ति रहा करती है। अपने व्यक्तित्व की संकीर्ण परिधि को पारकर सर्वात्मा, विश्वात्मा से अभिन्न परमात्मामय होने का प्रयत्न करना सन्त की साधना और अन्त में इसी की सिद्धि देखी जाती है।

श्री परमहंस जी महाराज से प्रसंगोपरान्त (कभी–कभी होने वाली वार्ता से) हम लोगों को केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि इनके

शरीर का जन्म पंजाब प्रान्त के किसी राजघराने में हुआ था। किसी–किसी से इन्होंने शरीर के जन्म स्थान का नाम अठीलपुर नगर बताया था जो कि रावी नदी के पश्चिम था। ज्ञात नहीं कि अब उस नगर के भग्नावशेष चिन्ह किसी रूप में मिलते हैं या नहीं?

इनके शरीर–जन्म के प्रथम उस राज माता के सन्तान तो हुई थी किन्तु जीवित न रहती थी। वह माता सन्त महात्माओं में श्रद्धा रखने वाली भक्त देवी थी। एक बार एक सन्त ने ही माता को आशीर्वाद दिया कि अब जो तेरे पुत्र उत्पन्न होगा वह जीवित रहेगा परन्तु उस बालक के सिर पर कभी उस्तरा न फिरने पाये, क्योंकि यह बालक घर में न रहेगा।

महान पुरुषों को अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा किसी भी महान् आत्मा के पृथ्वी पर अवतरण और तिरोधान का कुछ समय पूर्व ज्ञान हो जाया करता है। अतएव वे किसी मुक्तात्मा सन्त के आने–जाने की प्रथम ही सूचना दे दिया करते हैं।

वह राजमाता सन्त के गूढ़ निर्देश (भावी सूचना को) समझ सकी हो–या न समझ सकी हो किन्तु वह तो उनके आशीर्वाद से ही तृप्त हो गई कि पुत्र जीवित रहेगा। निदान कुछ समय के बाद सन्त का आशीर्वाद प्रत्यक्ष हुआ अर्थात इन्हीं श्री स्वामी जी के शरीर का जन्म (जिनकी कि यह जीवनी आप पढ़ रहे हैं) उस माता के गर्भ से हुआ। जन्मते समय इनका शरीर इतना छोटा था कि माता के पति तथा

श्वसुर ने इनके शरीर को देखकर खेद प्रगट करते हुए कहा– इस छोटे से शरीर से हमारा राज कार्य कैसे चलेगा। यह लड़का तो हमारे किसी काम का नहीं है। माता के हृदय को भला यह शब्द कैसे प्रिय लगते हैं? माता ने तो सन्त के आशीर्वाद से यह सम्पत्ति प्राप्त की थी। उसे सन्त का आशीर्वाद याद आ गया होगा। उसने तुरन्त ही उत्तर दिया कि ''चलो, राज कार्य न कर सकेगा तो न सही फकीरी तो कर सकेगा।''

धन्य है माता की ममता और विशाल हृदय की उदारता को। पुरुष हृदय भला उसका कैसे अनुभव कर सकता है। इस माता का श्रद्धालु हृदय सन्त–जीवन की महत्ता से अभिभावित है। अपने पुत्र के लघु कलेवर को देखते हुए यदि संसार की दशा में निराशामय आवरण सुख को छिपा देता है तो तुरन्त ही परमार्थ की दिशा में स्वर्णिम शान्ति की सूचना देने वाली आशा की किरणें चमक उठती हैं।

माता एक दैवी स्वरूप की कल्पना करती हुई कहने लगती है ''यदि कुछ भी न कर सकेगा तो मेरा लाल फकीरी तो कर सकेगा।''

धन्य माता, तुम कितनी चतुर एवं दूरदर्शिनी हो? अरे, जो फकीरी कर लेगा उसे फिर और करना ही क्या शेष रह जायगा?

उस माता के पुत्र रूप में स्वामी जी ने फकीरी ही की और पूर्ण सन्त पद में प्रतिष्ठित होकर ही रहे।

पाठक स्मरण रक्खें– यहाँ फकीरी का अर्थ वह पूर्ण तप है जिससे परम शान्ति का योग होता है। श्री स्वामी जी के द्वारा यह भी ज्ञात हुआ कि घर में पिता की अपेक्षा माता ही उनका विशेष प्यार–दुलार करती थीं। संपत्ति एवं सुखद् पदार्थों की कमी न थी बहुमूल्य वस्त्राभूषणों द्वारा इनका बाल्योचित श्रृंगार तो होता ही रहता था। एक योगी आत्मा में भला सांसारिक वस्त्राभूषणों के सौन्दर्य का क्या महत्व होगा, फिर भी बालक्रीड़ा का होना तो–स्वाभाविक था ही। श्री स्वामी जी का यद्यपि शरीर अभी अत्यंत छोटा था फिर भी उस छोटे शरीर में आत्मा अति विशाल एवं ऊँची थी। साथ ही इस महान् आत्मा में दैवी गुणों की किस प्रकार प्रधानता थी इसकी झलक स्वामी जी की बाल्यक्रियाओं में ही मिलने लग गई थी।

प्रायः बालक सभी निर्भय होते हैं किन्तु कुछ समझदारी आने पर सब में किसी न किसी प्रकार का भय जाग्रत हो जाता है। हमारे चरित नायक में कहीं भी भय का लेश न था। इसलिये ही प्रायः किसी के साथ की अपेक्षा न रखते हुए अकेले ही इधर–उधर निकल जाते और घंटों बाहर ही बैठे रहते थे। उस राजमहल के पीछे अन्तःपुर से सम्बन्धित एक बहुत बड़ा सरोवर था, अपना अधिकांश समय वह यहीं बिताया करते थे। जब कहीं बालक मंडली मिल जाती तो घंटों उसी के साथ खेलते रहते थे। एक बार खेलते हुए इन्होंने एक भिक्षुक को भीख मांगते देखा– उसे देखते ही इनका हृदय दया से द्रवित हो

गया, दया की क्रिया दान के रूप में होनी ही चाहिए। उसी समय इन्होंने बहुमूल्य हीरक जड़ी अँगूठी उतार कर उसे दे दी।

अँगूठी के मूल्यवान होने का ज्ञान तो परिवार के उन्हीं व्यक्तियों को था जो सांसारिक सम्पत्ति को ही सर्वोपरि महत्त्व देते थे अतः उन्हें ही अँगूठी के खो जाने का खेद भी हुआ होगा किन्तु दैवी सम्पत्ति से परिपूर्ण पुरुष को तो सांसारिक सम्पत्ति के दान एवं त्याग करने पर सन्तोष होता है। श्री स्वामी जी की दृष्टि में सांसारिक पदार्थों का कुछ मूल्य भासता ही न था। भासे भी कैसे? क्योंकि जन्मान्तरों से दान और त्याग के संस्कार दृढ़ हो चुके थे। अतएव इस जीवन के आरम्भ में उन्हें उन संस्कारों की क्रियाएँ स्वमेव होने लगीं।

एक बार यह बाल बिरागी बहुमूल्य शाल ओढ़े हुए खेलने चले गये। खेलते–खेलते उस शाल को कहीं भूल आये और शाल का उन्हें बिल्कुल ध्यान ही न रहा।

इस प्रकार की लापरवाही देखकर परिवार के लोग सजग हो गये होंगे, स्वामी जी को भी श्रृंगारिक पदार्थों के सम्पर्क से अनायास ही छुटकारा मिल गया होगा।

हम लोगों ने अनेक बार यह अनुभव किया कि स्वामी जी का कुछ पहिनने अथवा पहिने हुए वस्त्रादि को उतारने का अभ्यास ही न था। अपने जीवन के पिछले समय में जब भक्तगण उनके शरीर में कुर्ता डालने लगे थे तो यही अवस्था सदैव देखी गई कि वे दूसरे के

पहिनाने पर पहिनते और दूसरे के उतारने पर ही उतारते थे। श्री स्वामी जी की बाल्यावस्था में ही मुसलमानों ने पंजाब पर चढ़ाई की और उस लड़ाई में ही उनके इस शरीर के पिता मारे गये तथा माता सती हो गई। स्वामी जी बतलाते थे कि सती होने से प्रथम माता ने हमारा प्यार किया और पीठ पर हाथ फेर कर शुभाशीर्वाद दिया।

माता के न रहने पर पता नहीं कब और कैसे–स्वामी जी वहाँ से भागकर एक प्रसिद्ध सन्त के पास आकर रहने लगे। स्वामी जी बालक रूप में तो थे ही उस सन्त आश्रम में भी आप अपने खेल–कूद में ही व्यस्त और अपने आप में ही मस्त रहा करते थे। वे सन्त किसी औषधि के सहयोग से चाँदी बनाना जानते थे उनके यहाँ जो शिष्य रहते थे उनके द्वारा उस चाँदी को बिकवा कर अपना निर्वाह करते थे।

किसी से कुछ माँगते न थे। भला हमारे इन स्वामी जी से यह सोना चाँदी बेचने का व्यापार कैसे हो पाता? जिसे अपने तन के लिए भोजन वस्त्र की भी आवश्यकता तथा चिन्ता न प्रतीत होती हो वह चाँदी के दाम कैसे सम्भाल सकता है? इस बाल ऋषि को तो एक मात्र खेलने का ही प्रबल अभ्यास था। इनके इस खेलने में क्या रहस्य था इसे कुछ बिरले भाग्यवान ही जान सके। यह ध्रुव सत्य है कि महान् पुरुष अपने महान् कार्य की पूर्ति के लिये उस परिस्थिति में जन्म लेते हैं जिसमें उनकी अभीष्ट सिद्धि के लिए सभी प्रकार की सुविधायें प्राप्त होती रहें।

श्री स्वामी जी को तो अपना जीवन तप, त्याग, ज्ञान और प्रेममय तथा मुक्त बनाना था। साथ ही अनेक जन्मों के अपने सांसारिक सम्बन्धियों के ऋणानुबंध से सेवाओं द्वारा मुक्त होना था, इसके अतिरिक्त उन्हें उन प्रेमी जीवात्माओं का उद्धार भी करना था, जिन्होंने कभी किसी प्रकार से भी स्वामी जी की सेवाएँ की थीं। इसके साथ ही साथ लाखों नर–नारियों को भी सन्मार्ग में लगाना था ही, इस महान् संकल्प की पूर्ति के लिए वास्तव में वैसी सुव्यवस्था होनी चाहिये जैसे कि स्वामी जी के जीवन प्रभात की प्रथम किरण द्वारा ही चमकने लगी थी। अन्त में कुछ दिन बाद ही स्वामी जी ने उन सन्त की समीपता का आश्रय भी त्याग दिया और अकेले ही यत्र–तत्र विचरने लगे। उन सन्त ने इनका नाम हरनामदास जी रक्खा था।

सन्त का तपोमय जीवन

सबसे प्रथम सर्वभावेन आत्मशुद्धि के लिये राग द्वेषादि दोषों से मुक्त होना होता है, मिथ्याभय तथा अभिमान से ऊपर उठने के लिये असंयम, सुख तृष्णा तथा अज्ञान अन्धकार पर विजय प्राप्त करनी होती है और अपनी सारी दुर्बलताओं का अन्त करने के लिये दैवी शक्ति प्राप्त करनी होती है। इन सिद्धियों के लिये ही कायिक, वाचिक, मानसिक तप करना अत्यावश्यक है। तप से समग्र अन्तःकरण का मल धुल जाता है और वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे त्यागपथ में प्रगति होती है तथा ज्ञान का निर्मल प्रकाश प्राप्त होकर सत्य का साक्षात्कार होता है। आदर्श तपस्वी में ही आंतरिक ओज, उत्साह, साहस, सुदृढ़ धैर्य, आत्मनिग्रह, तथा उन विचारों की गम्भीरता का आपको दर्शन होगा। इन्द्रिय दमन, मनः संयम और संकल्पों की दृढ़ता आदि सद्‌गुणों का यदि आप कहीं साकार स्वरूप देख पायेंगे तो वह कोई आदर्श तपस्वी ही होगा। किन्तु सात्विक तप में ही सद्‌गुणों की प्रधानता देखी जाती है, इन्हीं सद्‌गुणों के द्वारा योगी अपने लिये परम शान्ति और दूसरों की सेवा के लिये शक्ति प्राप्त करता है।

इन महापुरुष का अपने शरीर की किशोरावस्था से ही अनायास उग्र तप आरम्भ हो जाता है, वास्तव में इनका जीवन भोगपथ में उतरा ही न था, इसीलिये इन्हें तपस्या में कहीं भी कुछ कठिनता

प्रतीत न हुई। सन्त महापुरुष शरीर, मन, वाणी तीनों ही से तपस्वी होते हैं।

अपने शरीर द्वारा पूज्यास्पदों का पूजन और निरालस्य होकर पात्रों की सेवा, स्वच्छता, सरलता ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा यह शारीरिक तप कहा जाता है। सत्य, प्रिय, सार्थक और किसी को दुःख न पहुँचाने वाले वचन बोलना, भगवत् चरित्र गान करना, नाम जप में लगे रहना, किसी की निन्दा न करना, व्यर्थ कर्कश कठोर वाक्यों का प्रयोग न करना यह वाचिक (वाणी का) तप कहलाता है। मन की प्रसन्नता भंग न होने देना सदा शान्त, सौम्य रहना सत्य का ही मनन करना शक्ति का संयम तथा सदैव अन्तःकरण की शुद्धि का ही पक्ष लेना यह मानसिक तप है। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में सतोगुणी रजोगुणी एवं तमोगुणी यह तीन भेद और भी तप के वर्णन किये गये हैं।

जो विचार पूर्वक भोग जनित सुखों को तुच्छ समझ सुखद वस्तुओं से विरक्त होकर संग्रह का त्याग करते हैं, तथा अपने शरीर की रक्षा मात्र के लिये अन्न वस्त्रादि का उपयोग करते हैं, जो भगवद् प्रेम में विरहाकुल होकर शरीर के सुख–दुःखों को भूले रहते हैं अतएव भोजन वस्त्रादि के ग्रहण में भी उपेक्षा रखते हैं अथवा अपने सर्वांगों को शुद्ध बनाने तथा दोष निवृत्ति के लिये दैनिक, साप्ताहिक या मासिक व्रतोपवासों को निरभिमान हो पूर्ण करते रहते हैं वे मानव सतोगुणी तपस्वी हैं।

जिस तप के आरम्भ में श्रद्धा सहित प्रेम, सत्य आग्रह और अन्त में शक्ति का सेवा तथा परहित में भगवत्प्रीत्यर्थ ही सदुपयोग होता है वही सतोगुणी तप कहलाता है। जिस तप से अहंकार न बढ़े वही शुद्ध तप है। जिस तप के आरम्भ में किसी की समता प्राप्त करने का आवेश, सिद्धियों का प्रलोभन, हठाग्रह और अन्त में सिद्धियों की शक्ति प्राप्ति का सुख–स्वार्थ में उपयोग किया जाता है तथा जो सत्कार मान, प्रतिष्ठा के लिये किया जाता है वह रजोगुणी तप है।

इसी प्रकार जिस तप के आरम्भ में अहंकार दुराग्रह और अन्त में अभिमान पूर्वक द्वेष क्रोधादि दुर्विकार रहते हैं वह तमोगुणी तप होता है।

हमारे चरित्र नायक श्री स्वामी जी महाराज में सर्वत्र सतोगुणी तप का ही दर्शन मिलता है। सतोगुणी तप की सिद्धि सतत विनम्रता, क्षमा, सहिष्णुता, प्राणिमात्र पर दया तथा प्रेम भाव के द्वारा ही होती है। स्वामी जी महाराज में यह गुण बड़ी सरलता से पाये गये। स्वामी जी के कर्त्तव्य पथ में यदि कभी शरीर एवं मन के प्रतिकूल कुछ बाधा आ भी जाती थी तो भी यह अपने निर्दिष्ट–लक्ष्य से कभी विचलित एवं सुख से मोहित नहीं होते थे।

सर्दी, गर्मी, वर्षा, आधि, व्याधि, उपाधि आदि जो भी द्वन्दाघात इनके सामने आये उन सबको अटूट धैर्य के साथ सहन करते हुए इन्होंने अपने आदर्श तप को निष्कलंक रखा। ये अपनी निन्दा करने

वालों, अनादर करने वालों तथा अकारण हानि पहुँचाने वालों के प्रति स्वप्न में भी बदले की इच्छा न रख उन्हें क्षमा करते हुए पूर्ण सहिष्णुता पालन करते हुए अपने तप की महत्ता को उज्जवल बनाते रहे। यदि इतना उत्कृष्ट तप न होता तो ये इतने महान नहीं हो सकते थे। स्वामी जी का तपश्चरण अन्य साधकों की भाँति भोगमय जीवन से लौटकर प्रायश्चित स्वरूप में न था। प्रत्युत इनकी जीवन–यात्रा स्वभावतः ऐसी विधि से हुई कि आप ही आप तपस्या होने लगी।

यह प्रथम ही निवेदन किया जा चुका है कि श्री स्वामीजी अपने घर से ऐसी स्थिति एवं अवस्था में बाहर निकले थे कि जिसमें संभवतः उन्हें स्वयं वस्त्रादि पहिनने की आवश्यकता प्रतीत न होती होगी। कदाचित कोई वस्त्र चलते समय शरीर पर रहा भी होगा तो सन्त की शरण में आकर फिर दुबारा वस्त्र बनवा कर पहिनने की चिन्ता ही किसे होती! फिर भला स्वयं सिद्ध अवधूत को धोती–लँगोटी की आवश्यकता ही क्या थी। आगे चलकर श्री स्वामीजी के नग्नरूप को देख सब लोग इन्हें नागा बाबा कहने लगे और यही नाम प्रचलित हो गया। बिल्कुल नंग–धड़ंग रहना, बालकों के संग खेलना, धूलिधूसरित देह, सांसारिक सुख वासनाओं से विरक्त, श्री स्वामीजी महाराज बाल्यकाल से ही इसी अवधूत दशा में विचरने लगे। महान पुरुष स्वभाव से ही त्यागी तपस्वी और दिव्य गुण सम्पन्न हुआ करते

हैं। इनके तप, त्याग, ज्ञान और विशुद्ध प्रेम से ही इनकी अलौकिक महत्ता का परिचय मिलता है।

साधारण साधकों को जितेन्द्रिय एवं तपस्वी होने के लिये क्रमशः हठपूर्वक अभ्यास करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वाह्य तप किसी प्रकार सध जाने पर भी आन्तरिक तपः सिद्धि में कठिनता पड़ती है। सारांश, आकृति बन जाने पर भी प्रकृति नहीं बन पाती। पूर्व का दृढ़ हुआ आहार–विहार–विषयक अभ्यास ही मन तथा इन्द्रियों के संयम में बाधक बनता रहता है। परन्तु स्वामी जी में ऐसे कोई संस्कार ही न थे। इनके शरीर तथा मन में वस्त्र पहिनने तक के संस्कार न पड़ पाये थे। इसके विपरीत यह सदैव नग्न रहने के अभ्यासी हो चुके थे। आरम्भ से ही दिगम्बर रहते–रहते इनमें तीव्र सर्दी–गर्मी सहन करने की असाधारण क्षमता अनायास ही बढ़ गई थी। सर्दी के दिनों में भी यह उसी प्रकार स्नान करते थे जिस प्रकार गर्मियों में किया जाता है। स्नान के बाद विभूति लपेटते फिर उसे पंखे की हवा से सुखवाया करते थे। जहाँ साधारण मनुष्य सर्दी–गर्मी के वेग का दुःख पूर्वक सहन करते वहाँ स्वामी जी महाराज सभी प्रकार के द्वन्दाघातों में अविचलित रूप से स्नेह प्रदर्शन किया करते थे। इन्हें द्वन्दात्मक वेदनाओं को तटस्थ होकर देखने का दृढ़ अभ्यास था।

श्री स्वामी जी महाराज ने बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक नग्न रूप में ही पैदल यात्रा करते हुए कितने वर्ष व्यतीत किये इसका

पता हम लोगों को न लग सका क्योंकि इनकी शारीरिक आयु का हम लोगों को प्रयत्न करने पर भी कुछ ठीक ज्ञान न हो सका।

श्री स्वामी जी का तपश्चरण दुर्बलता से आरम्भ न होकर सबलता से आरम्भ होता है और इन्हें असाधारण शक्ति से पूर्ण बना देता है, इन महान पुरुष का तप सदोषक्षेत्र से आरम्भ न होकर निर्दोष क्षेत्र से प्रारम्भ हो सद्‌गुणों एवं सद्‌भावों से उन्हें अलंकृत करता हुआ दिव्य ज्ञान और विज्ञान क्षेत्र में इन्हें पहुँचा देता है। यही कारण था कि स्वामीजी महाराज स्वतः कहीं शिक्षा न प्राप्त करते हुए भी उच्चतम सद्‌भाव सत् ज्ञान एवं विज्ञान के प्रकाशक थे। यह सब सात्विक सम्पत्ति राशि उन्हें उत्कृष्ट तप प्रभाव से ही प्राप्त हुई थी, तप से ही शक्ति है सहिष्णुता और इसी महाशक्ति से तप सिद्ध होता है। शारीरिक सहिष्णुता की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य व्रत रूप तपश्चरण द्वारा वीर्य की रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है।

इसी प्रकार मानसिक सहिष्णुता के लिये अटूट धैर्य की आवश्यकता है, इस अटूट धैर्य की स्थिरता यथार्थ विवेकी पुरुष में ही होता है। सारांश, ब्रह्मचारी मानव ही स्थिर धैर्यवान्, यथार्थ विवेकी होकर सच्ची तपस्या कर पाता है। अन्य व्यक्ति तो विशेष प्रयत्न करने पर भी तप की साधना में कुछ ही दूर तक बढ़ पाते हैं।

श्री स्वामी जी महाराज अखण्ड बालयती भी थे तथा पूर्ण सहिष्णु भी थे। उनमें सुदृढ़ धैर्य एवं परम विवेक था अतएव बाह्य तथा

आन्तरिक दोनों प्रकार के तपों से परिपूर्ण थे। जिन स्थानों में स्वामी जी महाराज ने कुछ दिनों निवास किया है, अथवा जिन स्थानों में विचरण किया है वहाँ के निवासियों एवं सेवा प्रेमी भक्तों ने स्वामी जी की अभूतपूर्व सहिष्णुता का दर्शन किया है।

इस समय हम उन कार्यों की चर्चा न करते हुए केवल यही जानने का प्रयत्न करते हैं कि स्वामी जी का तप किस प्रकार सर्वांगपूर्ण एवं शुद्ध था। इतना ही नहीं कि स्वामी जी सदा नग्न रहकर सर्दी गर्मी की वेदनाओं पर ही विजय प्राप्त कर सके थे वरन् ये इससे आगे वाक्तप और मनस्तप में भी पूर्णता प्राप्त कर चुके थे। श्री स्वामी जी अपनी वाणी पर सहज ही उत्कृष्ट संयम रखते थे। यह अत्यंत मितभाषी एवं प्रिय मधुर वक्ता थे। इन्हें कभी भी कटु वाक्यों का प्रयोग करते तथा कर्कश स्वर में कठोर बोलते हम लोगों ने सुना ही नहीं।

अपने तपश्चरण की प्रारम्भिक अवस्था में तो लगभग 12 वर्ष तक स्वामी जी महाराज मौन ही रहे, इसके उपरान्त जब कुछ बोले भी तो अपनी ओर से कुछ नहीं बोले– जिसने जो कुछ कहा वही शब्द स्वामी जी ने दुहराकर लौटा दिया। यह प्रतिध्वनिक क्रम भी बारह वर्ष तक चलता रहा। जिसने जो कुछ उच्चारण किया वही स्वामीजी ने भी कह दिया चाहे वह वाक्य प्रिय हो अथवा अप्रिय। इस स्थिति में रहते हुए स्वामी जी का कुछ भेद ही न मिलता था कि यह होश में हैं या पागल हैं, ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं, अधिकतर लोग

पागल ही समझा करते थे। जब तक स्वामीजी की इस प्रकार से ध्यानावस्था चलती रही तब तक प्रायः वे बालकों में ही रहते थे उन्हीं के साथ खेलते थे। जो बालक करते वही आप भी करने लगते और जो बालक कहते वही आप भी कहते रहते थे।

प्रायः जन साधारण स्वामीजी की स्थिति से परिचित हो गये थे अतः जब कोई भक्त स्वामी जी को कहीं ले जाना चाहता अथवा अपनी कोई समस्या सुलझाना चाहता तो वह बालकों के द्वारा ही स्वामी जी को चाहे जहाँ ले जाता तथा बालकों को आगे करके ही उनसे चाहे जो कार्य करा लेता था।

कभी–कभी कुछ बालक खेल ही खेल में स्वामी जी को बड़ी कठिन परिस्थिति में छोड़ देते थे। एक बार हमारे स्वामी जी बालकों के साथ खेलते–खेलते यमुना किनारे पहुँच गये। जिस गाँव के ये बालक थे वह गाँव नदी के समीप ही था। बालकों ने खेलते–खेलते एक ऊँची कगार से स्वामी जी को यमुना में ढकेल दिया। पानी गहरा था, धार भी तेज थी, उस तीव्र प्रवाह में स्वामी जी बहते हुए मीलों चले गये। किसी दूसरे ग्राम के सामने सम्भवतः किसी लड़के को ही देखकर किनारे आ लगे और उसी तरह फिर बालकों के साथ खेलना प्रारम्भ कर दिया।

उस अवस्था में स्वामी जी की ऐसी धारणा बन गई थी कि जिधर जिस ओर को चलें, चलते ही चले जायें, पीछे की ओर लौटे

ही नहीं इस प्रकार जब उत्तर दिशा की ओर चले तो नेपाल चले गये। और तिब्बत, यहाँ तक कि चीन तक पहुँच गये। श्री स्वामी जी द्वारा यह ज्ञात हुआ कि वहाँ यह किसी की भाषा समझ ही न पाते थे। स्वामी जी को तो बोलना ही क्या था। माँगना कुछ था ही नहीं जब कभी किसी ने स्वयं कुछ खाने पीने को दे दिया, खा–पी लिया। चीन में एक साहब के बाग में आप घुस गये। जितने दिन चीन में रहे उसी में ठहरे। उस साहब ने भी इन्हें हिन्दुस्तानी सन्त समझ इनकी सेवा की और अनुकूल भोजन आदि का प्रबंध भी कर दिया। चीन से फिर इनकी यात्रा की दिशा बदल गई और मालूम नहीं किस मार्ग से आसाम होते हुए भारतीय प्रान्तों में विचरते बर्मा एवं रंगून तक चले गये। उस समय इनमें आश्चर्यजनक मस्ती थी। भूख प्यास थकावट का तो इन्हें भान ही न होता था और रात–दिन का भेद भुलाकर आप बराबर घूमते ही रहते थे।

एक बार आप दक्षिण प्रान्त अकोला मुर्तिजापुर की ओर विचर रहे थे। वहाँ स्वामी जी के विभूति विभूषित दिगम्बर बालयती शरीर को देख कुछ लोगों ने इन्हें पकड़ लिया। साथ ही एक निराली पद्धति द्वारा पूजा की सामग्री तैयार की जिसमें जल मिश्रित दुग्ध के अनेकों घड़े थे, चन्दन व पुष्प मालाओं की मात्रा भी मानवीय पूजा की मर्यादा से बाहर हो गई थी। उन लोगों ने श्री स्वामी जी को एक चौकी पर बैठकार विशेष प्रकार से मंत्रोच्चारण करते हुए विधिवत कितने ही दुग्ध कलशों में चन्दन पुष्प चढ़ाकर स्नान कराया। यह पूजा क्या थी

मानो स्वामी जी के सहिष्णुता रूप तपोबल की अग्नि परीक्षा ही थी। किन्तु स्वामी जी के लिये तो यह स्नान भी एक कौतुक पूर्ण स्नान था। इस प्रकार स्वामी जी के अलौकिक तपोबल को देख उधर के गणमान्य नागरिक व्यक्ति भी अत्यन्त प्रभावित हुए। कुछ लोग दूर–दूर से स्वामी जी का पता लगाकर दर्शनार्थ भी आने लगे।

स्वामी जी की विशेष ख्याति, प्रयागराज और कानपुर के बीच भ्रमण करते हुए जिला फतेहपुर रियास असोथर में बारह वर्ष मौन रहकर तप करते हुए बढ़ती गई। इसी जिले में स्वामी मगनानन्द नाम के अच्छे सिद्ध महात्मा पुरुष थे। उन्होंने अपनी भौतिक लीला समाप्त करने के कुछ दिन पूर्व ही अपने शिष्यों को एक आश्चर्यजनक शुभ–सूचना सुनाई। उन्होंने कहा– ''पंजाब के दो महात्मा कुछ दिन बाद यहाँ आने वाले हैं। मेरे शरीर के न रहने पर तुम लोग उन्हीं दोनों महात्माओं का समागम करना और मेरे स्थान में उन्हीं को मानते रहना।'' श्री महात्मा मगनानन्द जी की सूचनानुसार कुछ दिन में यही श्री स्वामीजी महाराज एक दूसरे सन्त के साथ इस ओर पधारे इनके साथ जो दूसरे सन्त थे उन्होंने गंगा किनारे एक ही स्थान पर आजीवन निवास करते हुए भौतिक लीला समाप्त की। हमारे स्वामी जी महाराज विचरते हुए असोथर ग्राम में रहकर विशेष प्रकार से तप करने लगे अतः इस प्रान्त में चारों ओर प्रसिद्ध हो गये। इसके पूर्व यह सन्त जहाँ कहीं रहे वहाँ गुप्त ही रहे और जिस प्रान्त से चले आए वहाँ फिर लौट कर नहीं गए। एक वयोवृद्ध सन्त के द्वारा विदित

हुआ कि अपने इस जीवन का लगभग अर्ध भाग इन परमहंस जी ने अयोध्या में तप करते हुए बिताया इसका हम लोगों को कुछ भी ज्ञान नहीं है।

बाल विरागी परमात्मानुरागी सन्त नागा निरंकारी जी ने असोथर के जंगलों में अनेक वर्ष उग्र तपस्या की। श्री स्वामी जी महाराज को प्रथम तो असोथर निवासियों ने पागल समझकर इनकी उपेक्षा की। किसी–किसी ने तो इनके दिगम्बर स्वरूप को देख अत्यन्त भर्त्सना भी की परन्तु कुछ दिन बाद लोग इन्हें समझने का प्रयत्न करने लगे।

सबसे प्रथम एक साधारण गरीब ठाकुर जिनका नाम श्री शिवमंगल सिंह था, बड़ी श्रद्धा से स्वामी जी से मिले और आपको अवधूत सन्त रूप में पहचान कर सेवा करने लगे। इन दिनों स्वामी जी मौन रहा करते थे। बालकों के साथ खेला करते और ध्यानस्थ रहते एवं जब कोई लड़का न मिलता तो जंगल में पड़े रहते थे। कुछ दिन स्वामी जी ने जलशयन भी किया। उस जंगल में प्राचीन काल का बना हुआ एक भूधरा था। स्वामी जी ने भक्तों के सहयोग से उसके कंटकाकीर्ण धीरे–धीरे साफ करवा लिया और उसी स्थान को अपने तीव्र तप का केन्द्र बनाया।

स्वामी जी दिन को तो जंगल में किसी झाड़ी के नीचे पड़े रहते थे। आज यहाँ तो कल वहाँ, कोई निश्चित स्थान न था। वहीं वह क्षत्रिय–भक्त स्वामी जी के लिये भोजन लेकर जाता, कभी स्वामीजी

शीघ्र ही खोजने पर मिल जाते और कभी–कभी खोजते–खोजते दोपहर हो जाती, संध्या हो जाती। अन्त में घर लौट आता था। उस भक्त का यह नियम था कि स्वामी जी को भोजन बिना कराये स्वयं भी भोजन नहीं करता था। इधर स्वामी जी ने भी ऐसा नियम बना लिया था कि दिन भर चाहे जहाँ रहते परन्तु सायंकाल को उस भूधरा में अवश्य आ जाते थे। जब यह भक्त रात को फिर भोजन लेकर जाता तब स्वामी जी भोजन पाते थे। जाड़ों के दिनों में तो कुछ विशेष कष्ट न होता था किन्तु ग्रीष्म (गर्मियों) के दिनों में जब स्वामी जी दिन में न मिलते थे तब वे सारे दिन प्यासे ही रहते थे और फिर सायंकाल को जब पानी मिलता तब बहुत अधिक पानी पी जाते थे।

वह जीर्ण भूधरा अत्यन्त प्राचीन था। उसमें सांप–बिच्छू आदि जीव निकलते थे और स्वामी जी उन्हें पकड़–पकड़ कर बाहर फेंक देते थे। इस प्रकार कुछ दिनों में वह स्थान स्वच्छ और रहने योग्य हो गया। स्वामी जी उसी स्थान में रहकर तप करते हुए नाना प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त हुये।

स्वामी जी में शारीरिक तप एवं वाणी का तप जैसा उच्चतम और पूर्ण था वैसा ही उनके मन का तप भी पराकाष्ठा में पहुँचा हुआ था। वे प्रत्येक परिस्थिति में सदैव शान्त समस्थित रहते थे। उनके मन में कहीं भी अधीरता, आतुरता, उद्वेग–क्रोध एवं उत्तेजना दिखाई ही न पड़ती थी। सारांश, ये सर्वांग निर्विकार थे। एकान्त सेवी ऐसे थे कि नाम रूपमय जगत की अनेकता से ऊपर उठकर नित्य अद्वैत एक

चिन्मात्र स्वरूप में स्थित थे। यह सत्य ही है जो कुल का त्याग करता है वही सर्वाधार सर्वोपरि पदक प्राप्त करता है।

ये सन्त ऐसे विचित्र तपस्वी थे कि अपने लिये किसी से भी कुछ न मांगने का दृढ़ व्रत सा ले रखा था तभी तो इन्हें देखकर देवताओं के भी हृदय हिल जाते थे।

सन्त की विचित्र रहनी

वास्तव में उच्चकोटि के सन्तों की सत्यानुभूति एक सी ही होती है परन्तु प्रत्येक सन्त की रहनी में कुछ अपना वैशिष्ट्य होता है। सन्तों की बातों का कहीं–कहीं पर अर्थ समझना कठिन होता है। जो सन्त जिस देश में जिस परिस्थिति में प्रकट हुये हैं जैसे शिक्षा–दीक्षा में पले हैं प्रायः उसी के अनुसार उनका स्वभाव होता है। कोई अत्यंत एकांत सेवी मौन होते हैं, कोई अनेकों प्रकार के लोगों में रहकर उनकी सहायता करते धर्मोपदेश देते रहते हैं, कोई कर्मयोगी कोई भक्तियोगी कोई ज्ञानयोगी होते हैं। कुछ सन्त ऐसे होते हैं जिनके बाह्य आचरण बाल, जड़, उन्मत्तवत् होते हैं ऐसे लोग प्रायः शिक्षा नहीं देते फिर भी इनकी उपस्थिति मात्र से संसार का हित होता रहता है, गुप्त रूप से संसार के बहुत ऊँचे स्तर में काम करते रहते हैं। बहुत संत अपने को प्रकट नहीं करते।

सन्त साम्राज्य में भी अनेक उत्तरोत्तर स्थान हैं उनके अधिकारी हैं अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार ही भिन्न–भिन्न स्तरों में सन्तों का अपना–अपना अधिकार है।

हमारे परमहंस जी की रहनी बहुत ही विचित्र थी। बहुत दिनों तक इन्हें लोग पागल ही समझते रहे किन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जो इनकी उग्र तपस्या, अद्भुत तितिक्षा अर्थात् कष्ट सहिष्णुता को

देखकर महापुरुष होने का भी अनुमान करने लगे और दर्शनार्थ आने लगे।

सन्त के निकट आने पर ही उनकी महत्ता प्रकट होती है। ये सन्त वस्त्र तो रखते न थे लेकिन धूनी हर समय जला करती थी। आने वाले प्रेमियों को चलते समय धूनी की राख ही प्रसाद रूप में प्रसन्न होकर दिया करते थे। जब लोगों को यह मालूम हुआ कि धूनी राख से ही दो चार रोगियों के रोग दूर हो गए तब तो इनके पास आर्त और अर्थार्थी लोगों की भीड़ आने लगी। ये सन्त बालकों से अत्यधिक स्नेह करते थे उनके साथ ही खेलते रहते। उस समय बारह वर्ष मौन के बाद जब बोले तब वही शब्द बोलते थे जो कि सुनते थे, अपनी ओर से कोई वाक्य न कहते थे इसी कारण से यह बालकों के लिए तो एक विचित्र आमोद–विनोद की निधि बन गए थे। जैसे–जैसे समय बीतता गया स्वामी जी की ख्याति बढ़ती गई। दूर–दूर के लोग दर्शन को आने लगे और बालकों के ही सहारे अपने–अपने स्थानों में ले जाने लगे।

ये सन्त जहाँ कहीं जाते वहाँ के बालकों में ही खेलते, उन्हीं के साथ घरों में जाते, जो कोई खाने–पीने की वस्तुयें देता तो बालकों के साथ ही मिलकर खाते न एकांकी खाते न पहिले खाते। कोई रात को जहाँ लिटा दे वहीं लेट जाते, नग्न तो थे ही कोई कम्बल उढ़ा देता तो मना न करते और करवट लेने पर कम्बल गिर जाता तो उठाकर फिर अपने हाथ से न ओढ़ते थे। कोई कुर्त्ता पहिना देता तो

पहन लेते और अपने हाथ से उसे न उतारते थे, यदि कोई उसे दूसरा उतारता तो फिर दुबारा पहनने का प्रश्न ही न होता था। आप तो खेलते कूदते कहाँ से कहाँ हो जाते थे।

स्वामी जी की प्रत्येक चेष्टा में एक विशेष प्रकार का कौतूहल था। प्रायः अपरिचित व्यक्ति तो यदि स्वामी जी से स्वयं कुछ पूछना चाहता था तो वह भ्रम में ही पड़ जाता था। एक बार मार्ग में एक थानेदार साहब कहीं से आ रहे थे। इस ओर स्वामी जी भी बालकों सहित खेलते कूदते आ निकले। थानेदार इनके दिगम्बर वेष से चकित होकर इनसे पूछने लगे :–

थानेदार– तुम इस तरह नंगे क्यों घूमते हो?

स्वामीजी– तुम इस तरह नंगे क्यों घूमते हो?

थानेदार– ठीक तरह जवाब दो।

स्वामीजी– ठीक तरह जवाब दो।

थानेदार– मालूम होता है, पागल है।

स्वामीजी– मालूम होता है, पागल है।

थानेदार– अभी हवालात में बन्द कर देंगे।

स्वामीजी– अभी हवालात में बन्द कर देंगे।

इस प्रकार ध्वनि की प्रतिध्वनि रूप में थानेदार से वार्तालाप हो ही रही थी कि बस्ती के कुछ परिचित व्यक्ति आ निकले जो स्वामी जी को जानते थे। उन्होंने थानेदार को समझाया कि ''आप इनसे बात

न कीजिए, यह महात्मा पुरुष हैं।'' तब थानेदार को सन्तोष हुआ और वह बन्दगी करके चला गया। इसी प्रकार असोथर के थानेदार को भी भ्रम हो गया था। उसने तो चिढ़कर सिपाहियों द्वारा स्वामी जो को हवालात में बन्द भी कर दिया था। स्वामी जी प्रसन्नचित्त हवालात में बन्द होकर अपने ध्यान में मग्न हो गये। रात को बीच–बीच में स्वामी जी 'अलख' शब्द का उच्चारण कर दिया करते थे। इस 'अलख' शब्द को रात में असोथर की रानी साहिबा ने अपने महल से सुना। वे श्री महाराज के शब्द पहिचानती थी। उन्होंने जब पता लगवाया तो ज्ञात हुआ कि थानेदार ने स्वामी जी को हवालात में बन्द कर दिया है। रानी ने थानेदार को कड़ी धमकी दी और उसी समय स्वामी जी को हवालात से छुड़वा दिया। श्री स्वामी जी तो दोनों अवस्थाओं में एक रस थे। मानो थानेदार से कुछ संबंध ही न हुआ हो, इसी प्रकार उदासीन ही रहे। इस घटना की कोई चर्चा ही न चली, परन्तु किसी अदृश्य शक्ति से सन्त का यह अभिमानपूर्वक अपमान न सहा गया। फलतः वह थानेदार सदा के लिये नौकरी से हटा दिया गया। और भी एक दो ऐसी दुःखद घटनाएँ घटीं जिनका उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह विक्षिप्त (पागल) होकर न मालूम कितने दिनों तक दुःख भोगता रहा।

प्रेमी पाठक कहीं यह अनुमान न कर बैठें कि स्वामी जी ने उसे कुछ शाप दे दिया होगा। वास्तव में स्वामीजी के हृदय में तो इतनी दया थी कि वे किसी दुःखी को रोते देखकर स्वयं ही रो पड़ते थे।

अनेक बार स्वामीजी का अपने निन्दकों से सामना पड़ा। जहाँ सहस्रों नर नारी श्री स्वामी जी के पूर्ण श्रद्धालु और उनकी स्तुति पूजा करने वाले थे, वहाँ कोई–कोई उनसे ईर्ष्या–द्वेष रखने वाले भी थे। परन्तु स्वामी जी के जीवन में कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि कभी उन्होंने उन ईर्ष्यालु एवं अपने निन्दकों का कोई अनिष्ट चाहा हो या उनसे बदला लेने की इच्छा की हो। श्री स्वामीजी महाराज तो जब कभी कथा–वार्ता में भी किसी को शाप देने की बात सुनते तो अत्यंत खिन्न हो जाया करते थे और करुणा की कसक भरी वेदना से पूर्ण शब्दों में कहा करते थे कि ''जिसमें शक्ति हो वह किसी को शाप न देकर यदि कुछ देना ही चाहे तो किसी दुःखी को वरदान एवं शुभाशीर्वाद ही देवे तो कितना सुन्दर हो।''

श्री स्वामीजी कभी किसी पर रुष्ट तो होते ही न थे। वरन् समय–समय पर ऐसा भी देखा गया कि उनके समीप रहने वाले व्यक्ति उनकी उत्कृष्ट सहिष्णुता एवं सरलता और उच्चतम निष्काम प्यार का उपयोग अपनी साधारण छोटी–छोटी सी इच्छाओं की पूर्ति के लिये करते हुये अपनी क्षुद्र–प्रकृति का परिचय दिया करते थे। परन्तु हमारे दयावतार स्वामी जी ऐसे व्यक्तियों को रजोगुणी, तमोगुणी स्वभाव से बद्ध जानकर बराबर क्षमा प्रदान ही करते रहते थे। उनका कहना था कि ''सब परमात्मा के जीव हैं किसी पर कोप न करके दया ही करना चाहिये। सब जीव अपने–अपने कर्मानुसार ही सुख दुःख भोगते हुए गति पाते हैं। भूमि पर चलने वाला प्राणी एक दम

आकाश में कैसे उड़ सकता है, सबकी धीरे–धीरे ही उन्नति होती है। सब जीवों को परमात्मा देखता है, वही सबका मालिक है। हमें अपनी ओर से किसी जीव को भी न सताना चाहिये।।''

स्वामी जी की वाणी में कभी भी कटुता एवं कर्कशता न देख पड़ी। उनमें तो सरलता, सौम्यता, नित्य–प्रसन्नता मूर्तिमान सी होकर विराजती और सब को अपनी ओर आकर्षित करती रहती थी।

एक बार इन्हें एक मियाँ मिल गये। वे फकीरों के भक्त थे– इनको देखकर कामिल फकीर समझ कर कहा, शाह साहब मेरे घर चलिये, तो आप भी कहने लगे, शाह साहब मेरे घर चलिये। मियाँ ने अपनी बातों को दुहराते देख और आश्चर्य विस्मय से फिर पूछा–चलोगे? उत्तर में चलोगे। मियां–तो चलो? स्वामी जी– तो चलो? मियां चल पड़े। घर के आँगन में नगं–धड़ंग ले जाकर खड़ा कर दिया। बीबी जी देखकर हैरान हो गई, ये कहाँ का पागल सरीखा आदमी पकड़ लाए हो। मियाँ ने कहा अरे ये बहुत ऊँचे दर्जे के फकीर हैं इन्हें कुछ खाना तो खिला दो। बीवी बेचारी मियाँ की आज्ञानुसार एक थाल में कुछ खाना ले आई। मियाँ जब बैठे थे तब स्वामी जी भी बैठ गये थे। मियाँ जब थाल लेने उठे तो स्वामी जी भी उठ कर खड़े हो गये। मियाँ ने अपने हाथ में थाल लेकर कहा, 'लो बाबा खाना खालो। स्वामी जी भी हाथ फैलाकर थाल पकड़कर कहने लगे, 'लो बाबा खाना खा लो।' मियाँ जी ने स्वामी जी को थाल पकड़ा देखकर थाल छोड़ दिया। इधर स्वामी जी ने भी उसी स्थान

से तत्पश्चात थाल से हाथ हटा लिये। थाल जमीन पर तड़ाक से गिर पड़ा। चपाती साग दाल सब बिखर गई। बीबी तो घबराई हुई थी ही, यह काण्ड देखकर और भी घबरा गई और मियाँ से बोलीं, आप भी कहाँ का नंगा पागल पकड़ लाये हो भगाओ। इससे मियाँ बेचारे ने परेशान होकर कहा बाबा चलो। तो आप भी कहने लगे—बाबा चलो। मियाँ जब बाहर को चले तो स्वामी जी भी चल पड़े बाहर आकर स्वामी जी को छोड़ दिया। मियाँ दरवाजा बन्दकर घर में चले गये इधर स्वामी जी भी जिधर मुँह था उधर ही चल पड़े।

यह विचित्र प्रकार का ध्यान था। ऐसा भास होता था कि ये सन्त आनन्द स्वरूप की उपासना में तल्लीन हैं अपना कोई संकल्प न था कोई इच्छा न थी खिलवाड़ के बीच में निस्संकल्पता और निष्कामता का अभ्यास दृढ़ हो रहा था। सुनते हुये अपनी इच्छा से कुछ न सुनते थे, देखते हुये अपने लिये कुछ न देखते थे, जो कुछ देखना सुनना करना था निष्काम था और सब कुछ आनन्दमय था, चारों ओर आनन्द ही आनन्द का वातावरण बना रहता था। केवल उतनी ही देर वाह्य प्रकृतिस्थ होते थे, जब किसी दुःखी को या रोगी को देखते थे और उसे अपने तपोबल से दूर कर देते थे।

धीरे—धीरे असोथर नगर में एक श्वपच से लेकर कुलीन ब्राह्मण तक, महानिर्धन से लेकर धनवान तक सारी प्रजा एवं राजा रानी सभी श्री स्वामी जी के प्रति श्रद्धा करने लगे, और अनेकों अपने—अपने घरों को पवित्र करने के भाव से बालकों सहित श्री स्वामी जी को घर ले

जाते, भोग लगाने के लिये दूध मिठाई जैसी जिसको सुविधा होती प्रसाद निवेदित करते।

स्वामी जी प्रथम तो सब बालकों को बाँटते पुनः स्वयं दुग्ध पान कर लेते। जिस किसी भी ग्राम में जाते यही नियम चालू रहता। यह भी एक आश्चर्य की बात थी कि कभी–कभी ये एक दिन में पाँच–सात घरों में ही नहीं वरन् बीस, तीस, चालीस घरों में भी जाते थे और सभी के यहाँ दूध पीते थे और वह दुग्धपान मानवीय मर्यादा से बाहर हो जाता फिर भी उनके लिये कोई विशेष बात न होती थी।

असोथर में एक बार कुँवर चन्द्र भूषण सिंह जी ने स्वामी जी को बुलाया और इस कामना से बुलाया कि श्री स्वामी जी उसी प्रकार उनकी सेवा स्वीकार करें तथा उन पर भी उसी प्रकार प्रसन्न हो कृपा करें जिस प्रकार गरीब भक्त वचना की सेवा स्वीकार करते और कृपा करते हैं। उन्होंने स्वामी जी के नग्न शरीर पर एक दुशाला उढ़ा दिया। कुछ द्रव्य आदि भेंट करने का तो अवसर ही न था। क्योंकि इन दिगम्बर देवता के पास तो रखने बाँधने के लिये एक चिट भी न थी। स्वामी जी उस दुशाले को ओढ़े हुए बालकों सहित अपने रात्रि काल के एकान्त आसन पर चले आये। वहाँ धूनी अवश्य रहती थी। दुशाला कंधे पर पड़ा था। धूनी के पास बैठते ही दुशाला खिसकर धूनी के समीप आ गिरा। एक अवधूत सन्त उस गिरे हुए बहुमूल्य दुशाले को फिर उठाकर अपने कंधे पर रखें–यह उनकी विरक्ति के विरुद्ध चेष्टा सिद्ध होती। जिनकी दृष्टि में देह का ही जब कुछ महत्व

नहीं; तो शीत, उष्मा, मान–अपमान की वेदनाओं में समस्थित रहकर सदा अपने चिन्मात्र स्वरूप में समाधिस्थ रहते हैं वे योगीराज दुशाले जैसी पार्थिव वस्तु से क्यों मोह करेंगे? स्वामी जी ने तत्काल ही उस दुशाले को कुछ और आगे बढ़ाकर जलती हुई अग्नि में आहुति दे दी और वह जलकर भस्म हो गया।

किसी भी वस्तु में आवश्कतानुसार ही आसक्ति हुआ करती है। तत्व ज्ञानी पुरुष संसार की किसी भी वस्तु में इसलिये ही आसक्त नहीं रहते, क्योंकि वे अपने लिये उसकी आवश्यकता नहीं समझते। किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति में मनुष्य जितना ही अधिक सुख मानता है उतना ही अधिक वह वस्तु या व्यक्ति उसे मूल्यवान दीखती है। किन्तु जिसे संसार की किसी वस्तु या व्यक्ति में सुख दीखता ही नहीं प्रत्युत सुख का मिथ्या आभास प्रतीत होता है ऐसी मनःस्थिति में वह भला सांसारिक वस्तुओं एवं व्यक्तियों के प्रति क्यों आकृष्ट होगा।

बाल विरागी पूर्ण त्यागी श्री परमहंस जी शाल अथवा अन्य किसी सांसारिक वस्तु को भला क्यों महत्व देंगे जबकि उन्हें संसार का सभी नाम–रूप मिथ्या–अर्थात् प्रतिक्षण बदलने वाला दीख रहा है। जिनकी ज्ञान दृष्टि से संसार का सभी कुछ जलता, नष्ट होता प्रतीत होता है क्यों न वे इस संसार से उदासीन होकर रहेंगे? माया तथा मान की मोहकता ऐसे वीतरागी परमत्यागी सन्त को कैसे आकर्षित कर सकती है?

श्री स्वामी जी महाराज को वह वस्तु इतनी तुच्छ दिखी कि उन्होंने उसे तुरन्त ही अग्नि में झोंक दिया। इधर कुँवर साहब ने जब अपने दिये हुए शाल की भस्म क्रिया का समाचार सुना तब उन्हें खेद एवं पश्चाताप हुआ और इसके साथ ही उनकी श्रद्धा–सेवा की गति भी वहीं समाप्त हो गई।

श्री स्वामी जी महाराज यदि कभी कुछ किसी का दिया हुआ स्वीकार करते भी थे तो केवल निर्वाहमात्र स्वल्पाहार ही। वह अयाचित रूप से अनायास प्राप्त हो जाय तो! इन सन्त जी ने याचना तो कभी किसी से की ही नहीं। जब तक कोई प्रेमी स्वयं भोजन का प्रश्न न उठाता तब तक आप भोजन विषयक कोई संकेत भी न करते थे। इन पंक्तियों को लेखक को कुछ समय तक गुरुदेव के साथ भ्रमण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस भ्रमण काल में लेखक ने देखा यह वीतरागी सन्त सदैव ग्राम–बस्ती से दूर एकान्त में ही ठहरते थे। जब उस एकान्त विश्राम स्थान में आकर कोई प्रेमी भक्त भोजन का प्रश्न उठाता तब आप उसे भोजन की स्वीकृति दिया करते थे। साथ ही हम लोगों को भी शिक्षा दिया करते थे कि ''किसी से भी कुछ न मांगो। जो तुम्हारे प्रारब्ध का होगा वह स्वतः ही आ जायेगा।''

श्री स्वामी जी महाराज अन्य सन्त महात्माओं की भाँति अधिक उपदेश, व्याख्यान आदि कुछ न देते थे। यदि कोई कुछ प्रश्न करता तो संक्षेप में ही एक दो वाक्य ऐसे भाव से कह देते कि प्रश्नकर्ता को पूर्ण सन्तोष हो जाया करता था। जिज्ञासु को अधिक पूछने की इच्छा

ही न रह जाती थी। इनकी समीपता में प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी कुछ अनिवर्चनीय शान्ति प्रतीत होती थी कि प्रायः प्रश्न, तर्क एवं शंकाएँ न जाने कहाँ विलीन हो जाती थीं। श्री स्वामी जी के आस–पास ऐसी शान्ति छाई रहती थी कि इनके समीप पहुँचते ही प्रत्येक दर्शनार्थी श्रद्धालु की अशान्ति दूर हो जाती थी। यह देखकर आश्चर्य होता था कि अच्छे–अच्छे ग्रेजुएट बाबू, एवं उच्च पदाधिकारी विद्वान लोग श्री स्वामीजी के चरणों के समीप बैठने मात्र की अभिलाषा लेकर आते थे और घंटों बैठे रहते एवं अपने हृदय में ऐसा अनुभव करते हुए लौटते थे कि ''हमें अवर्णनीय अदृश्य शक्ति मिली है, हम खाली आये थे और अब भरे हुए से जा रहे हैं।'' इस प्रकार प्रायः अनेकों श्रद्धालु दर्शकों का अनुभव सुना गया।

एक बार ये सन्त उत्तर प्रदेशीय फतेहपुर नगर में एक प्रेमी भक्त के घर में ही तीन चार वर्ष रह गए। सन्त की मौज ही तो है – कहाँ तो बीहड़ वनों में एकाकी निवास का पक्ष और कहाँ शहर के बीच में अनेकों व्यक्तियों से भरे हुए परिवार के साथ वर्षों रहने की सहिष्णुता दोनों विरोधी बाते हैं। इस दीर्घ कालीन अन्तर्गृहवास के कारण परमहंस जी का शरीर अत्यन्त स्थूल हो गया था, कब तक ध्यान न जाता। यद्यपि इस प्रकार उस घर में ही तीन चार वर्ष रह जाने का विशेष कारण था, ये सन्त उस परिवार में एक बड़े अभाव की पूर्ति करना चाहते थे। उस भक्त के पुण्य बढ़ाने के लिये ही ये घर में ठहरे थे परन्तु इतने अधिक दिन वहाँ पर सन्त के तप ध्यान करने पर भी

अभीष्ट ध्येय की सिद्धि न हो सकी। कर्म से कर्म काटने का प्रयत्न निष्फल हुआ। तब सन्त ने अपना संकल्प बदल दिया और एक दिन घर से निकल कर सीधे हिमालय यात्रा के लिये चल पड़े। चार वर्ष एक स्थान में रुकने का इससे अधिक प्रयाश्चित और क्या हो सकता था। दूसरा कोई व्यक्ति इतना स्थूल शरीर लेकर पहाड़ की चढ़ाई कर ही न सकता था परन्तु ये सन्त तो अपने तन मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किये हुये थे इनके लिए कोई कठिन बात ही न थी।

इन योगीराज ने हिमालय की चढ़ाई की और बद्रीनारायण पहुँचकर चैन लिया। पसीना निकाल–निकाल कर स्थूलता का आधा भाग तो पचा ही डाला। मार्ग में एक ब्रह्मचारी मिले, स्वामी जी की भव्य मोहक मूर्ति के दर्शन से ये अत्यन्त प्रभावित हुए। कुछ बातचीत करने पर जब स्वामी जी को यह ज्ञात हुआ कि यह ब्रह्मचारी जी कुछ आयुर्वेद शास्त्र का भी ज्ञान रखते हैं तब अपने बड़े भारी पेट में रोग होने की आशंका करते हुए स्वामी जी ने उन्हें पेट देखने की प्रेरणा की। ब्रह्मचारी जी ने देखा और अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर कहा– ''महाराज, आप चलते–फिरते कैसे हैं? आप के उदर में यकृत इतना बढ़ गया है कि यदि आप की अवस्था में कोई दूसरा होता तो उसे हिलना डुलना भी दुष्कर होता'' ब्रह्मचारी की बात सुनकर स्वामी जी तो हँसकर मौन हो गये परन्तु ब्रह्मचारी जी ने किसी अन्य मनुष्य से यह कहा कि यह महात्मा अब छः मास से अधिक नहीं जी सकते। इस कथन को साथ में रहने वाले शिष्य ने सुनकर ध्यान न दिया।

योगियों के सामर्थ्य को भला सर्व साधारण व्यक्ति क्या समझे–यह सोच कर ही वह शिष्य मौन रह गए।

स्वामी जी श्री बद्रीनारायण की यात्रा करते हुए एक दिन सन्ध्या समय एक चट्टी (विश्रामशाला) में ठहरे हुए थे। स्वामी जी के साथ त्यागी जी नाम के एक शिष्य थे उन्होंने देखा कि ध्यानास्थ हुए श्री स्वामी जी की ओर सौंप की तरह लम्बा तेजोमय प्रकाश तीव्र गति से आकर स्वामी जी के पास विलीन हो गया।

इस अद्भुत् दृश्य को देख शिष्य का चित्त कुछ विस्मित एवं चिन्तित हो उठा। ध्यानोपरान्त श्री स्वामी जी ने शिष्य की ओर देखा और पूछा क्या है? शिष्य ने भी जो देखा था, कह दिया। शिष्य को अब भी उस तेजोमय सर्प के आसन से नीचे घुस कर बैठ जाने का संदेह था। स्वामी जी आसन से उठ खड़े हुए और उन्होंने शिष्य को आसन देख लेने की आज्ञा दी। परन्तु आसन झाड़ने पर वहाँ कुछ न निकला। स्वामी जी हँसकर फिर बैठ गये। किसी समय उन्होंने बताया श्री बद्रीनारायण तेजोमय रूप में उन्हें दर्शन देने आये थे।

उसी समय संक्षेप में श्री बद्रीनारायण जी के महान तप की कथा भी स्वामी जी ने सुनाई। अपनी हिमालय यात्रा समाप्त कर श्री स्वामीजी महाराज उत्तर प्रदेश के अनेकों ग्रामों में विचरते एवं अपने नाम को कहीं न बतलाते हुए जिला हमीरपुर के सिसोलर ग्राम में पहुँचे।

इससे कई वर्ष पूर्व भी इस ग्राम में स्वामी जी आ चुके थे। जिन बालकों के साथ आप खेल चुके थे उनमें से कुछ लोगों ने ही बहुत कुछ मनोयोग देने पर आपको पहिचान पाया। इसी ग्राम में प्रताप सिंह नाम के एक जमींदार श्रद्धालु एवं सन्त सेवी व्यक्ति थे। पहिले भी यह स्वामी जी के प्रति अत्यन्त, श्रद्धा रखते थे किन्तु उन्होंने भी चिरकाल तक दर्शन न हो सकने के कारण स्वामी जी को न पहिचान पाया। स्वामी जी ने किसी की ओर न देखा और न कुछ पूछा, केवल मार्ग से ही दो लड़कों को साथ ले लिया और उन्हीं के कंधों पर हाथ रक्खे सीधे प्रताप सिंह के घर में घुसे ही चले गये। सभी लोगों को इस प्रकार बिना पूँछताँछ के इन्हें घर में घुसते देख आश्चर्य हुआ। एक सन्यासी जी ने (जो कि उस समय वहाँ बैठे हुए थे) स्वामी जी के नेत्रों की ओर देखा तथा इनकी निर्भीकता का अनुभव कर पहिचान लिया कि यह कोई अवधूत स्थिति में पहुँचे हुए सन्त हैं। उधर प्रताप सिंह को भी तुरन्त ध्यान आ गया कि इस प्रकार निर्भयतापूर्वक घर की महिलाओं में चले जाने का साहस करने वाले श्री नागा बाबा जी ही हो सकते हैं। इतना स्मरण आते ही उन्हें पूर्व मूर्ति के आधार पर वर्तमान की तुलना के लिये सब कुछ मिल गया। वे तुरन्त भीतर दौड़ गये और स्वामी जी को प्रणाम किया। उनकी धर्मपत्नी भी सन्त सेविका परम श्रद्धालु महिला थी। अचानक अपरिचित सन्त रूप को देखकर पहिले तो कुछ संकोच में पड़ गई परन्तु श्री स्वामी जी की दृष्टि में कुछ ऐसा अद्भुत प्रेमाकर्षण था, पवित्र भावना का ऐसा तेजोबल था कि कोई भी इन्हें देखकर सरलता पूर्वक मुग्ध हो जाता

था। भय तथा शंका का फिर कहीं प्रवेश ही न हो पाता था। जब तक प्रताप सिंह जी भीतर ड्योढ़ी में पहुँचे तब तक यहाँ स्वामी जी आसन पर बिठलाने आदि का सब प्रबन्ध हो चुका था। प्रताप सिंह जी ने स्वामी जी को अच्छी तरह पहिचान लिया और सब लोगों को सावधान करते हुए कहा कि 'अरे भाई यह तो वही नागा बाबा हैं जो पहिले एक बार यहाँ आ चुके हैं।' फिर क्या था श्री स्वामी जी के शुभागमन का समाचार सुगन्ध की भाँति सारे ग्राम में फैल गया। जिसने जिस अवस्था में श्री परमहंस जी के आने की आवाज सुनी वह वैसा ही दौड़ पड़ा। कुछ देर में ही आदमियों की भीड़ लग गई कुछ लोग दर्शन करने आ रहे थे कुछ लोग दर्शन से तृप्ति लाभकर कार्यवश अपने–अपने घरों को श्री नागा जी के शुभागमन की एक दूसरे को सूचना देते हुए लौट रहे थे। फलस्वरूप एक ग्राम से दूसरे, दूसरे से तीसरे ग्राम में आँधी की तरह चतुर्मुखी गति से यह समाचार फैलता चला गया कि ''एक बड़े प्राचीन महात्मा आये हैं जो बड़े सिद्ध पुरुष हैं।''

आज के संसार से आर्त और अर्थार्थी भक्तों की ही अधिकता है। दूसरे ही दिन से बाहर के ग्रामों की भीड़ आने लगी। केवल प्रथम दिन ही लोगों ने श्री स्वामी जी के श्रीमुख से निकले शब्द सुने, बाद को ऐसा अवसर न मिल सका क्योंकि दूसरे दिन से ही स्वामी जी ने उस उमड़ती हुई जनता की भीड़ को देख मौन धारण कर लिया था। कारण दर्शकों की उस अपार भीड़ में यदि कुछ लोग केवल दर्शन

करने आते थे तो उनमें अधिकांश नर–नारी इस आशा से अपने–अपने दुःखों को प्रकट करते थे कि सन्त दुआ देंगे, विभूति देंगे तो भला हो जायगा। स्वामी जी सबको विभूति बाँटते ही थे और अधिकतर उस विभूति से लाभ भी उठाते थे। कभी–कभी कुछ लोगों को इस लेखक से औषधि लिखवा दिया करते थे। इस प्रकार उत्तरोत्तर भीड़ बढ़ती ही गई। अनेक प्रकार के रोगी दूर–दूर से आने लगे। कुछ रोगियों को तो तत्काल ही विभूति मिलने से लाभ हो जाता था। कुछ भूत प्रेत की बाधा वाले आये और स्वामी जी के सन्मुख आते ही रोये–चिल्लाये तथा उसी क्षण शान्त और स्वस्थ हो गये। उनके सिर से भूत का नशा सदा के लिये उतर गया। इन्हीं सब घटनाओं से भीड़ और भी बढ़ती गई। एक दिन एक व्यक्ति स्वामी जी की विभूति लिये जा रहा था। मार्ग में एक सूखा हुआ पीपल का पेड़ मिला उसने थोड़ी सी विभूति उस पीपल के पेड़ पर यह कहते हुए डाल दी कि 'नागा बाबा की विभूति की करामात हम तब समझें जब यह सूखा पेड़ हरा हो जाये।' उसके साथ कई अन्य मनुष्य भी थे। दो तीन दिन बाद जब वे लोग पुनः स्वामी जी का दर्शन करने आ रहे थे मार्ग में पीपल को देख पिछली बात का ध्यान हो आया। उन लोगों को उस पीपल के वृक्ष में हरी पत्तियाँ देख अत्यन्त आश्चर्य हुआ। यद्यपि वे दो चार दिन में ही संभवतः सूख गई थीं परन्तु विभूति का चमत्कार उन लोगों को दीख गया।

एक भक्त ने अपने खारे कुएँ में इस आशा से विभूति डाल दी कि इसका पानी मीठा हो जाय, उसके कुएँ का पानी भी मीठा पीने योग्य हो गया। एक दिन दर्शकों की भीड़ अधिक थी, प्रबन्धकों ने स्वामी जी को एक अध्यापक के घर में विश्राम करने के लिये बिठा दिया। इधर पता लगने पर सैकड़ों नर नारी दर्शन की प्रतीक्षा में अधीर हो द्वार पर खड़े हुए थे। द्वार की जंजीर भीतर से बंद थी। भीतर जो व्यक्ति स्वामी जी के साथ थे पूर्ण निश्चिंत थे कि जंजीर तो लगी हुई है अब भला कौन अन्दर आ सकता किन्तु आश्चर्य की बात है कि जंजीर अचानक अपने आप खुल गई। और दर्शक लोग अन्दर आकर स्वामी जी के दर्शन से परम सन्तुष्ट हुए।

इसी ग्राम में किसी हीन जाति का एक लड़का मियादी बुखार से पीड़ित था। बाईस या पच्चीस उपवास हो चुके थे। चिकित्सा होने पर भी कुछ लाभ प्रतीत न होता था। श्री स्वामी जी के पास नित नई भीड़ आती थी उनकी महिमा सुनकर उस लड़के के पिता ने भी स्वामी जी से प्रार्थना की।

दर्शकों से अवकाश पाकर संध्या समय स्वामी जी उसे देखने गये। विभूति लगाई और वही पेड़े जो बालकों को प्रसाद में बांटते थे उनमें से एक पेड़ा उस लड़के को भी खिला दिया। बस उसी दिन उस बालक का ज्वर उतर गया। इस प्रकार नित्य ही कुछ न कुछ आश्चर्यजनक घटनायें देखने में आती रहती थीं। उन दिनों यह

लेखक स्वामी जी के साथ ही था। स्वामी जी के साथ के साथ रहते हुए लेखक ने ऐसा दृश्य पहिले कभी न देखा था।

एक दिन रात को स्वामी जी से यह प्रश्न किया गया कि आप हिमालय से लौटकर मार्ग के अनेक ग्रामों में होकर आये तब तो कहीं आपके पीछे ऐसा कौतुक नहीं हुआ, यहाँ आते ही ऐसी लीला आपके साथ क्यों दिखाई दे रही है? इस प्रश्न का स्वामी जी बड़ी गम्भीरता पूर्वक यह उत्तर दिया कि ''इस समय हम परमात्मा के विराट रूप का ध्यान कर रहे हैं, इसीलिये यह जीव स्वरूपा शक्ति खिंचती चली आ रही है। यह सब परमात्मा का ही तो अंग है। अनेक नाम रूप में एक परमात्मा का ही वास है।'' श्री स्वामी जी के इस प्रकार समझाने पर मेरी समझ में उन बातों का अर्थ आ गया जो मैंने स्वामी जी के साथ मार्ग में कहीं–कहीं चलते समय देखी थी।

वैसे तो स्वामी जी कहीं किधर से भी निकल जाते कोई भी बालक या वृद्ध उनसे नहीं बोलता और न स्वामी जी ही किसी की ओर दृष्टिपात करते थे। परन्तु किसी–किसी स्थान पर जब स्वामी जी को बालक दीख पड़ते थे तो ये स्वयं खड़े होकर कुछ ऐसे ढंग से अपनी दृष्टि का भाव बदल देते थे कि स्वयं बालक ही दूर से हर्ष ध्वनि करते, उछलते–कूदते, स्वामी जी के पास उसी तरह आ जाते जिस तरह अपने किसी परम सुखद सम्बन्धी को देखने के लिये दौड़ पड़े हों। साथ ही स्वामी जी भी बालकों के साथ ध्यान मग्न हो खलेने

लग जाते। जब खेल समाप्त होता तब कहीं एकान्त में जाकर विश्राम करते।

सिसोलर ग्राम में तो यह लीला दिन पर दिन बढ़ती ही गई। यह सब लीलाएँ परमहंस जी के सामने इसीलिये हो रही थीं कि उन दिनों ये परमात्मा के विराट रूप का ध्यान कर रहे थे। विश्व रूप भगवान् को जो आत्मरूप से भजता है वही योग उत्तम है। उसमें जगतकल्याण की अभूतपूर्व सामर्थ्य आ जाती है। भगवान् ने ऐसे महात्मा को योगियों में श्रेष्ठ माना है। सिसोलर ग्राम में श्री स्वामी जी एक मास तक रहे। हिमालय यात्रा में चले जाने से चारों ओर के परिचित भक्तों को चिन्ता हो गई थी। इधर जब स्वामी जी के आने का समाचार सबको मिल गया तो कानपुर, फतेहपुर, प्रयागराज आदि जिलों से भक्तगण इनके दर्शन के लिये यहीं पहुँचने लगे। वहीं पर पाली ग्राम की एक रईस महिला जो कि स्वामी जी की अनन्य भक्त थीं स्वामी जी के दर्शनार्थ आई। उन्होंने बड़ी दीनता एवं नम्रता पूर्वक स्वामी जी से पाली चलने की प्रार्थना की। श्री स्वामी जी को उनकी दशा पर दया आई और उनकी अनन्य श्रद्धा से सन्तुष्ट होकर पाली जाने का निश्चय कर लिया। निदान, कुछ दिन पश्चात् सिसोलर से श्री स्वामी जी महाराज पाली पधारे।

श्री परमहंस जी की अन्तिम जीवन लीला का सर्वोपरि सम्बन्ध पाली से है। न जाने किस कर्म–संस्कार के भोग के लिए यहाँ भाग्यशाली आत्माओं का परस्पर अद्भुत संयोग संगठित हुआ। न

जाने कितने जन्मों के बिछुड़े हुए प्रेमी यहाँ जाति–पाँति, ऊँच–नीच तथा बड़े–छोटे के भेदभाव को भूलकर एवं एक प्राण एक हृदय हो एकात्म भाव से मिले, एक प्रेम के सूत्र से बँधे और एक दिशा की ओर सभी मिलकर चले। आज भी सभी अपनी मति–गति से चलते ही जाते हैं। भगवान् ही जानें यह सब कहाँ पहुँचेंगे।

सन्त के अद्भुत कार्य

संसार ने समय–समय पर सन्त महापुरुषों को जन्म दिया है। मानव समाज के संचित पुण्यों से सन्त–महात्मा साकार रूप से जन्म लेते हैं और समाज के पापों की अधिकता से ही क्रूर कर्मी, दुष्ट दुर्जन पैदा होते हैं। भारतवर्ष में हम अपने धर्म संरक्षकों को अवतार कहते हैं। ऐसे महापुरुषों द्वारा ही दैवी गुणों का विस्तार, पुण्यों की रक्षा और पापों का नाश होता है। सन्त–सद्गुरु के आदर्श जीवन में इसी तरह के कार्य सम्पादित होते हैं जिनसे सद्धर्म सत्कर्म की संस्थापना होती है। हमारे लिये सन्त नागा जी महाराज ईश्वरीय गुणों के अर्थात दैवी सम्पत्ति के एक अवतार हैं, इनसे मानव समाज को पापों से पुण्य की ओर, परतन्त्रता से स्वतंत्रता की ओर, असत् से सत्य की ओर, विषयासक्ति से विरक्ति की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिली है, प्रकाश मिला है। हमारे सन्त सद्गुरु उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद् पूर्ण पुरुष हैं; इनसे ही हम सब के पूर्ण परात्पर परमानन्द तत्व का सन्देश मिला है, उससे योगस्थ होने का साधन मिला है। इनकी समीपता बड़े ही सौभाग्य का परिचय है, दैवी वरदान है।

परमहंस श्री नागा जी महाराज में अहंगत सांसारिक सुखोपभोगों की वासना–कामना तो थी ही नहीं, साथ ही महत्वाकांक्षा भी न थी जिसके प्रलोभन से बिरले योगी ही बच पाते हैं। इसीलिये स्वामी जी अपने तपोबल से संग्रहीत शक्ति द्वारा सदा दूसरों की सेवा सहायता

ही करते रहे। अपने लिये तो आप केवल परम शान्ति ही चाहते थे और उस परम शान्ति द्वारा ही ये नित्य–तृप्त रहते थे।

यदि शक्ति का उपभोग में उपयोग न किया जाय तो साधारण शक्ति के द्वारा भी साधक असाधारण दैवी शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है। जब दैवी शक्तियों के प्राप्त कर लेने पर भी साधक निष्काम बना रहता है तब वे दैवी शक्तियाँ ही सर्वाधार सर्वशक्तिमान परमात्मा के पूर्ण योग में सहायक होती हैं तथा साधक को सिद्ध बना देती हैं।

हमारे स्वामी जी इस सिद्धावस्था के ज्वलन्त उदाहरण हैं। स्वामी जी दैवी शक्तियों द्वारा कब सिद्धावस्था को प्राप्त हुए, यह हम नहीं समझ सकते क्योंकि हमने तो जब उनके दर्शन किये, सिद्धस्वरूप में ही किये।

श्री स्वामी जी का हृदय परम दयालु था। इनकी एक मात्र तरस यही थी कि संसार के सभी दुःखी जीव सुखी हो जायें किन्तु कर्म रेखा को कोई कहाँ तक मिटा सकता है। सन्त की इच्छा तो सबको सुखी देखने की होती है किन्तु सबकी इच्छा तो सन्त की इच्छानुसार अर्थात् आज्ञानुसार चलने की नहीं होती, यही कारण है कि सब सुखी नही हो पाते।

यह पहले बताया जा चुका है कि न मालूम कितने वर्षों से परिभ्रमण करते हुए स्वामी जी ने असोथर नगरी की वन भूमि को अपने तपश्चरण का केन्द्र बनाया था। इस नगर में स्वामी जी की

विशेष सेवा शिव मंगल सिंह नामक निर्धन व्यक्ति ने की थी। शिव मंगल सिंह निर्धन होने के साथ–साथ सन्तानहीन भी थे। संसारासक्त व्यक्ति प्रायः जब किसी को कुछ देते हैं तो बहुत कुछ पाने की इच्छा से ही देते हैं। इसके विपरीत संसार से विरक्त पुरुष जब किसी से कुछ लेते हैं तो उसके बदले में बहुत कुछ देने के लिये लेते हैं। निष्काम होकर परम शान्ति प्राप्त करने की उत्कृष्ट लालसा रखने वाले तत्व ज्ञानी सभी व्यक्ति नहीं होते। शिवमंगल सिंह ने भी जो स्वामी जी को नियम पूर्वक नित्य भोजन पहुँचाने की सेवा की थी उसमें भी कुछ प्रच्छन्न मौन याचना थी। यद्यपि वे ऊपर से कुछ माँगते तो न थे परन्तु सन्तान के अभाव का दुःख तो दम्पति को था ही। इधर स्वामी जी ने जब ध्यानपूर्वक उसके भाग्य को देखा तो सन्तान का योग ही न था। परन्तु श्रद्धापूर्वक कई वर्ष तक सेवा करने के फलस्वरूप कुछ पुण्यों का संचय हो चुका था। उस पुण्य राशि के बदले में ही स्वामी जी ने अपने अधिकार के दो जीवात्माओं को इस भक्त के यहाँ जन्म लेने की प्रेरणा की। प्रसंगवश स्वामी जी के मुख से ही मैंने यह कथा सुनी थी। मैंने एक बार प्रश्न किया था कि स्वामी जी! आप असोथर के इस गरीब भक्त शिवमंगल सिंह की सहायता का ही क्यों पक्ष लेते हैं, इसके उत्तर में स्वामी जी ने बतलाया कि जब इसके सन्तान न होती थी तब मैंने अपने सम्बन्धित एक जीव से यह कहा था कि 'तुम इसके यहाँ जन्म ले लो, किन्तु शिवमंगल सिंह की निर्धनता को देखकर वह जन्म लेने को तैयार न होता था तब मैंने उसे आश्वासन दिया कि तुम्हारे सभी सामयिक

अभावों की पूर्ति करते रहेंगे। इस वचन पर वह जीवात्मा जो आजकल पुत्र रूप में है, जन्म ले सका था। बस उसी अपने वचन की पूर्ति मुझे करनी पड़ती है।

इस प्रकार की बातों पर वही मनुष्य अविश्वास करेंगे जो सन्तों की असाधारण सामर्थ्य से अपरिचित हैं। सन्त की दिव्य दृष्टि में लोक लोकान्तरों के जीव अन्तवाहक शरीर में दिखलाई पड़ते हैं। सन्त को अपने पिछले जन्मों के अनेक सम्बन्धी भी जहाँ कहीं जिस योनि में होते हैं दिखाई देते हैं। अतएव सन्तजन अपने उन सम्बन्धियों को जिन्होंने कभी किसी भी रूप में उनकी सेवा की है उसके बदले में गति सद्गति एवं परमगति का मार्ग दिखलाते और साधन बताते हैं। यही कारण है कि हमारे धर्म शास्त्रों में अनेक ऐसे वचन मिलते हैं कि जिस कुल में परमात्मा का भक्त एवं ज्ञानी पुरुष उत्पन्न होता है उस कुल की इक्कीस पीढ़ी तर जाती है। शास्त्रों के यह वचन मिथ्या नहीं हैं। असोथर के शिवमंगल सिंह जी भी स्वामीजी के सम्बन्धी जीवात्माओं में से ही एक थे। कुछ दिन बाद उस भक्त की धर्मपत्नी के गर्भ में दूसरा जीवात्मा आया।

जिस दिन यह जीवात्मा गर्भ में आया उसी दिन श्री स्वामी जी ने उसके घर जाकर यह कहा– कि आज तेरे घर में अमुक आदमी आया है, किन्तु शिवमंगल सिंह स्वामी जी की इस बात का भला क्या अर्थ समझ पाता?

समय पर जब वह पुत्र उत्पन्न हुआ तो वह बालक अत्यधिक रोता था। साथ ही दूध भी नहीं पीता था बालक की यह दशा देख यह दोनों पति पत्नी बहुत चिन्तित हो गये। विविध उपचारों के बाद निराश होकर श्री स्वामी जी के चरणों में अपना दुःख निवेदन करने आये। उस समय स्वामी जी का मौन व्रत समाप्त हो चुका था, वे बोलने लगे थे। इन्होंने हँसते हुए कहा कि ठीक है वह धनी घर से गरीब घर में आया है इसीलिये रोता है। श्री स्वामी जी भक्त शिवमंगल सिंह के घर गये और उन्होंने बालक को वैसे ही समझाया जैसे कि कोई किसी समझदार को समझाता है। तत्पश्चात् उस बालक की माता के स्तनों से दूध निचोड़ कर बालक को दिखाते हुए स्वयं पी गये और बालक से बोले– अरे भाई, अब तो पी ले, प्रसाद है, प्रसाद! इतना सुनते ही वह बालक दूध पीने लगा।

इधर घर से स्वामी जी के निकलते ही उसने फिर वही दूध न पीने और रोते रहने की जिद ठानी। अतः स्वामी जी को फिर दो–चार बार आकर समझाना पड़ा। अन्त में उस नवजात शिशु की बुद्धि पलट गई और वह अपनी माता की गोद में सन्तुष्ट होकर रहने लगा।

श्री स्वामी जी ने अपनी ओर से दिये गये वचन के अनुसार इन दोनों जीवों की सहायता का सदा ध्यान रखा। भक्त पर प्रारब्धवश जो भी संकट आये श्री सद्गुरु देव कभी विभूति देकर कभी कोई औषधि बताकर ध्यान योग द्वारा इन्हें संकट मुक्त कर दिया करते थे।

इनकी शक्ति का परिचय तो दूसरों की दुःख निवृत्ति करते हुए भावुक भक्तों, दीन दुखियों की सेवा–सहायता करते हुए ही मिलता है। परमहंस जी बालकों के साथ खेलते हुए ही असाध्य से असाध्य रोगियों के लिये औषधि खोजा करते थे। ये जहाँ भी होते वहीं की समीपस्थ वस्तुओं से ही रोगी का उपचार होने लगता था। यदि जंगल में कोई दुःखी पहुँच जाता था तब तो जंगली वनस्पतियों से दुःखी का दुःख दूर करते और यदि किसी के घर में होते तो जो कुछ भोजन वहाँ बना होता उस भोजन को ही औषधि बना दिया करते थे। इस प्रकार न मालूम कितने मियादी बुखार के रोगियों को–जिनका अन्नादि भोजन चिकित्सकों ने महीनों से छुड़ा दिया था, स्वामीजी ने भर पेट भोजन करा दिया और वे सदा के लिये चंगे हो गये। किन्हीं–किन्हीं रोगियों को तो स्वामी जी ने कई बार भरपेट दही–बड़ा पूरी आदि खिला दी और वे उसी समय से अच्छे हो निकले। प्रायः नवागन्तुक व्यक्ति स्वामी जी के ऐसे उपचारों से भय खाते थे किन्तु परिचित श्रद्धालु इतने निर्भीक हो गये थे कि स्वामी जी जो कुछ भी देते उसे बड़ी श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया करते थे।

बालकों की बड़ी–बड़ी भयानक बीमारियाँ तीव्र ज्वर आदि अपने हाथों से स्नान कराकर, अथवा कभी धूनी की आँच में तपाकर कभी केवल विभूति (राख) ही लगाकर अच्छा कर दिया करते थे।

जिला फतेहपुर के विन्दकी ग्राम की एक धनी घर की महिला तपेदिक से पीड़ित थी। अकस्मात श्री स्वामी जी भी वहाँ पहुँच गये।

उसके घर वालों ने स्वामी जी से प्रार्थना की। सुनते ही स्वामी जी ने जंगल की एक बूटी दिखाकर पिलाने का आदेश किया। बस उस बूटी के कुछ दिन सेवन करने से वह महिला पूर्ण स्वस्थ हो गई। इसी प्रकार उसी ग्राम के एक और पुरुष भी इस रोग से पीड़ित थे। औषधि तो–जो कि स्वामीजी ने उस महिला को दी थी, उस पुरुष की चिकित्सा करने वाले वैद्य को मालूम ही थी, उसने उसका उस मनुष्य को भी सेवन कराया किन्तु कुछ लाभ न हुआ।

इधर स्वामी जी जब दूसरे ग्राम में थे तब उनका पता लगाकर वहाँ के कुछ लोग स्वामी जी को उस पीड़ित पुरुष के कल्याणार्थ लेने आये परन्तु स्वामीजी न गये। अन्त में वह यक्ष्मा (तपेदिक) का रोगी समाप्त हो गया। सारांश, स्वामी जी को दी हुई औषधि को पहिचानकर यदि कोई दूसरा देता था तो वह औषधि लाभ न करती थी। हाँ, स्वामी जी के हाथों दिये जाने पर तो वह अचूक लाभप्रद होती थी। संभवतः इसका यही रहस्य प्रतीत होता है कि स्वामी जी के स्पर्श एवं उनके पवित्र दृढ़ संकल्प से ही उसे औषधि में आश्चर्यजनक प्राणशक्ति भर जाती थी जिससे रोगियों का कल्याण होता था।

विरक्त महापुरुषों में तप के बल से ऐसी शक्ति संग्रहीत होती है कि आत्मनिर्देश से ये मानसिक और शारीरिक सभी प्रकार की बीमारियों को दूर कर सकते हैं। इनके तीव्र संकेत से शरीर के जीवागुणाक करण एक स्थान से दूसरे स्थान को गतिशील होते हैं।

जो कोई अपनी इच्छाओं को मार सकता है उसी में यह शक्ति ही जाती है कि अपने संकल्प से अणु परमाणु को शुद्ध कर सकता है, प्रतिकूल का अनुकूल बना सकता है।

हममें से कोई भी इस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर सकता है। यदि हम सदा अपनी मानसिक शक्ति को संकल्प और विकल्प में व्यय न करें तो हमारे भीतर कभी–कभी उठने वाले संकल्प की पूर्ति के लिये पर्याप्त शक्ति संचित हो सकती है, परन्तु इसके लिये हमें चेतना की धारा को स्ववश करना होगा। शरीर के भीतर किसी एक केन्द्र पर मन को एकाग्र करना होगा। पूर्व स्वभावानुसार उठने वाले चित्त के स्फुरण को तत्क्षण दबाते रहना होगा।

सन्त महापुरुष में प्रायः दो ही संकल्प अधिकतर होते हैं, प्राणियों के हित का संकल्प और एकान्त ध्यान का संकल्प। हमारे परमहंस जी में यही दो संकल्प उठते थे और इन्हीं की पूर्ति के लिए शक्ति का उपयोग होता था। इनका चित्त सदा समाहित शान्त रहता था, अधिकतर आँखों की पलकें भी न गिरती थीं।

जिला कानपुर में एक सवायतपुर नामक ग्राम है। वहाँ एक प्रेमी भक्त के घर स्वामी जी पधारे। उस भक्त के घर में जो कुआँ था उसका पानी खारी था। श्री स्वामी जी को जलपान कराने के विचार से जैसे ही वह भक्त कलश लेकर जल भरने के लिये बाहर वाले कुएँ पर जाने लगा वैसे ही स्वामी जी ने पूछा–जब तेरे घर में कूप है तब

तू बाहर पानी लेने क्यों जाता है। भक्त ने हाथ जोड़कर कहा, महाराज! घर में कुएँ का पानी तो खारा है पीने लायक नहीं है। स्वामी जी ने तुरन्त कुएँ में डालने के लिये विभूति दी उसको डालते ही कुएँ का जल मीठा हो गया जो अब तक मीठा ही है।

एक बार साढ़ ग्राम के एक श्रद्धालु ब्राह्मण के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ परन्तु माता के स्तनों से दूध ही न निकलता था। वह नवजात शिशु तो दूध के बिना व्याकुल था ही साथ ही उसकी जन्मदात्री माता भी स्तनपीड़ा से अत्यन्त व्यथित हो रही थी। ग्राम वैद्यों के सब उपचार व्यर्थ हो चुके थे अतः कुछ लोगों की यह सम्मति हुई कि अब नागा बाबा को बुलाकर उनसे प्रार्थना की जाय। यह प्रस्ताव सबने स्वीकार किया और कुछ देर बाद बालकों के साथ खेलते हुए नागा बाबा को लोगों ने ढूँढ लिया।

अपनी सारी व्यथा नागा जी को सुनाकर वे लोग बालकों सहित इन्हें अपने घर ले आये। उस समय ये मौन ही रहते थे। इनका कोमल हृदय किसी भी दुःखी की वेदना से अत्यन्त व्यथित हो उठता था। उस समय ये बालकों को घर के आंगन में ही छोड़ गृह में घुस गये। इनमें सभी श्रद्धा रखते थे अतएव इनकी गति भी सर्वत्र अबाध थी। प्रायः श्रद्धालु भक्त इन्हें अवधूत रूप में बालकवत् ही देखते थे। इन्होंने माता के स्तन पान करने का संकेत दिया, इस संकेत से पहिले तो वह माता लज्जावश कुछ सकुचाई परन्तु उस महासंकट दशा में एक अवधूत सन्त के सामने इस प्रकार के संकोच का पक्ष

कैसे टिक सकता था। पति ने सम्मति दी, माता ने अपने स्तन से वस्त्र हटा दिया। स्वामी जी ने अपने मुख से स्तनपान कर तीन बार रुधिर रूप में वमन किया। प्रत्येक बार स्वामी जी बाहर सूर्य की ओर मुख कर फिर बाद को स्तनपान करते थे इस प्रकार चौथी बार मुख से दुग्ध निकाला। तदन्तर जब इस क्रिया के बाद शुद्ध दूध निकलने का विश्वास हो गया तब उस नवशिशु को दुग्ध पान कराया गया। इस प्रकार स्वामी जी ने उस बालक एवं उसकी माता दोनों का ही कष्ट दूर किया।

वही बालक सयाना होकर कई बालकों का पिता बना। कुछ दिनों बाद जब स्वामी जी फिर मिले तो इन्होंने उस व्यक्ति को सावधान किया कि अब तू कुछ परमात्मा का भजन कर ले, तेरा समय थोड़ा ही रह गया है। किन्तु माया मोह के वशीभूत हुआ जीव भला इतनी सरलता से क्यों सुनेगा। अन्त में स्वामी जी के संकेतानुसार वह व्यक्ति कुछ दिन अस्वस्थ हुआ और उसे शरीर का त्याग करना ही पड़ा। श्री स्वामी जी ने उसके भाई से यह भी बतलाया था कि अब वह अपनी बहिन के उदर से जन्म लेने गया है। अनेक लक्षणों, विचित्र स्वप्नों एवं कुछ बातों से परिवार वालों को यह निश्चय हो भी गया कि यह पुत्र के रूप में जन्म लेने वाला वही व्यक्ति है जो पहिले भ्राता रूप में मिला था।

इसी ग्राम के एक शिक्षित सभ्य ब्राह्मण सेवा भाव से साधारण चिकित्सा कार्य किया करते थे। इनके पुत्र को चेचक का प्रकोप हुआ। ज्वर तीव्र था।

श्री परमहंस जी महाराज बालकों के लिये तो साक्षात नयनाभिराम आनन्दघन, श्यामसुन्दर भगवान श्री कृष्णा की भाँति प्राण प्रिय सखा स्वरूप थे ही। ज्वर वेग से पीड़ित वह बालक अपने समीपवर्ती लोगों से हठाग्रह करने लगा कि हमें स्वामी जी के दर्शन करा दो। परिवार के लोगों ने यह समझा कि आज देवी जी स्वामी जी के दर्शनों को मचल रही हैं। परन्तु उस समय उन लोगों को यह भी ज्ञान न था कि स्वामी जी महाराज हैं कहाँ? किन्तु जब उस बालक के बड़े भ्राता घर के बाहर निकले तो उन्हें अकस्मात् ''नागा बाबा की जै'' की तुमुल ध्वनि सुनाई दी। ज्यों ही उन्होंने आगे बढ़कर देखा तो सामने बालकों के साथ खेलते हुए श्री परमहंस जी मिल गए। उन महाशय ने हर्षित हो चरणों में प्रणाम किया और बालक की दशा का वर्णन किया। सुनते ही श्री स्वामी जी ने उनके साथ घर जाकर रुग्ण बालक के शरीर पर विभूति लगाई जिसके लगाने के कुछ देर बाद ही बालक का ज्वर शान्त हो गया।

इसी प्रकार पाली ग्राम के एक भक्त ब्राह्मण परिवार ने अपनी छोटी बहू के लिये एक पुत्र या पुत्री प्राप्ति की प्रार्थना की। परमहंस जी ने कहा घबराते क्यों हो, इस बहू के तो एक पुत्री और दो पुत्र

होंगे। फलतः कुछ समय बीतने पर श्री स्वामी जी के कथनानुसार क्रमशः एक पुत्री और दो पुत्री का जन्म हुआ।

एक बार उसी पुत्री को ऐसा ज्वर हुआ कि 21 दिन तक उतरा ही नहीं, माता–पिता उसके जीवन से निराश हो गए किन्तु श्री परमहंस जी ने उसके शरीर में विभूति लगाकर कुछ ही देर में ज्वर उतार दिया, वह सो गई। तत्पश्चात् स्वामी जी चलते चलते घरवालों से कहते गए कि यह लड़की बारह बजे रात में नींद से उठेगी और खाना मांगेगी तब इसे तुरन्त पूड़ी खिलाना और पूड़ियों को पहले से ही बनाकर रख लेना। घर वालों ने वैसा ही किया, जब रात में बालिका की नींद टूटी तब बीस दिन के बाद उसे पूड़ी खिलाई गई। वह स्वस्थ होकर दूसरे तीसरे दिन से बालकों के साथ खेलने लगी।

स्वामी जी ने जो दो पुत्र होने की बात कही थी सो उन दोनों पुत्रों की शिशु अवस्था में बता दिया था कि एक जीवात्मा पंजाब से आया है यह बहुत बग्गड़ उदण्ड होगा और दूसरा लड़का शान्त प्रकृति का होगा। श्री स्वामी जी के कथनानुसार ही दोनों बालकों का स्वभाव देखा गया।

योगी महापुरुष दिव्य दृष्टि द्वारा जीवों की भूत तथा भविष्य दोनों दशायें देख लेते हैं। प्रत्येक जीव के कर्मों का सांस्कारिक रूप एक चित्र की भाँति आकाश पटल में गुप्त रूपेण अंकित रहता है। मनुष्य के प्रत्येक भावों तथा विचारों के अनुसार ही चित्र बनते रहते

हैं। वह चित्र बहुत ही उग्र, भयानक तथा बहुत सौम्य, सुन्दर भी हुआ करते हैं। उन्हीं को चित्रगुप्त कहते हैं जो प्रत्येक जीव के परिणाम को प्रगट करते हैं और जिसे ही जीव को भोगना पड़ता है। श्री स्वामी जी किसी भी जीव के गुप्त कर्म चित्र को देख लेते थे और सूक्ष्म शरीर से विचरने वाले जीवात्माओं को भी देखते रहते थे। यह नहीं यह महात्मा तो कुछ विचित्र ढंग से एक आँख से ही अर्धोन्मीलित दृष्टि द्वारा अन्तर्लोकों का दर्शन करते रहते थे। इस विषय में हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है अतः प्रस्तुत प्रसंग पर ही हम विचार करेंगे।

श्री स्वामी जी ऐसी अलौकिक बातें देखकर असंख्य नर नारी इन्हें सांसारिक लाभों की सिद्धि के लिये ही प्रायः घेरे रहते थे। इधर स्वामी जी भी ऐसी परिस्थितियों के घिराव से कभी ऊबते भी न दीख पड़े प्रत्युत प्रसन्न और शान्त रहकर सबकी सुनते तथा जिसने जो कुछ कहा उसी को मानने के लिये तैयार रहते थे किन्तु कभी कोई धार्मिक मर्यादा के विरुद्ध जघन्य (नीच) पाप क्रियाओं के लिये उन्हें प्रेरित न कर सका।

सन्त सद्‌गुरु के जीवन में जो चमत्कारिक शक्तियाँ दिखाई देती हैं वह केवल हृदय के अत्यंत शुद्ध होने पर ही अभिमान त्याग और सर्वभावेन परमात्मा के प्रति ही अटूट अनुराग के कारण प्रकट हुई है और इन चमत्कारिक शक्तियों का सन्त ने संसार की सेवा में ही सदुपयोग किया है। किसी प्रकार का बदला चाहे बिना दूसरों की

सेवा सहायता करते रहना ही तो सन्त के पवित्र विशाल हृदय होने का परिचय है।

हमारे ये सन्त अपनी एकान्त की तपोमयी साधना में जितने गुप्त थे, जितना ही संसर्ग से दूर रहते थे उतना ही ये दीन दुखियों की सहायता के लिये वृहद् जनसमुदाय के मध्य विचरते रहे। एक समय इन सन्त के सामने ऐसा भी आया कि सबके लिये खुला द्वार था इनसे जो कुछ चाहे कहला ले और जैसा चाहे करा ले, केवल इतना ही पक्ष था कि सामाजिक धर्म मर्यादा के विरुद्ध किसी चेष्टा का स्थान न था। शेष में इनके पास जो कुछ था वह सब का था। अपनी–अपनी योग्यतानुसार इनके पास होने वाली शक्ति का कोई भी अपने लाभार्थ उपयोग कर सकता था।

समीपवर्तियों ने इन महादानी सन्त की उदारता का और सेवा करते हुए कष्ट सहिष्णुता का जो अनुभव किया है वह कहते हुए भी पूरा नहीं कहा जा सकता। सहानुभूति और सेवामय जीवन में ही आत्मा के गुणों का विस्तार होता है। व्यक्तिगत स्वार्थमय जीवन से आत्मपतन होता है।

आध्यात्मिक सामर्थ्य तथा सिद्धि लाभ के लिये सन्त श्री परमहंस जी कुछ मूल धार्मिक तत्वों पर विशेष जोर देते थे। इनकी मान्यता थी कि इस युग में प्राणि मात्र के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करने से और परमात्मा के निरन्तर नाम जप से ही जीव को परमात्मा का योग और

संसार से वैराग्य हो सकता है। आप दुर्बल की सहायता, शरणागत की रक्षा करने वाले को ही वीर पुरुष कहते थे। दूसरों की सहायता तथा रक्षा के लिये बौद्धिक कुशलता के साथ ही शारीरिक बल बढ़ाने के पक्षपाती हैं। यहीं तक नहीं प्रत्युत साधनाभ्यास तथा भजन ध्यान के लिये भी आप शरीर में बल की आवश्यकता बताते थे। आपका कहना था कि योग सिद्धि के लिये भी युवावस्था और शारीरिक बल सहायक होता है। बल क्षीण होने पर अवस्था ढल जाने पर योग सिद्धि होना कठिन है। इसीलिए आत्मोद्धार चाहने वालों को ये सन्त युवावस्था में ही साधन भजन करने की प्रेरणा देते थे। शरीर रक्षा के लिये ये सन्त–सद्‌गुरु विचारपूर्वक मध्य मार्ग के पक्षपाती थे। अकारण ही अनादि छोड़ कर शरीर को जीर्ण बना देने की सम्मति आप नहीं देते साथ ही देह को पहलवान बनाने की चिन्ता लेकर अधिकाधिक घृत, दुग्ध सेवन करते रहने का भी पक्ष नहीं लेते थे। आपकी सम्मति थी अनायास प्रेम पूर्वक जो रूखा सूखा भोजन मिले भर पेट खा लो और खूब भजन करो।

एक बार एक अपरिचित ब्राह्मण जिसे अपनी विद्या एवं साधना का अभिमान था–श्री स्वामी जी के दर्शनार्थ आया और स्वामी जी के समीप ही अपनी समाधि दशा का परिचय देने के लिये आसन जमाकर बैठ गया। बहुत देर हो जाने पर उसके उठाने की अनेक चेष्टायें की गई किन्तु वह अपनी प्रतिष्ठा के लोभ में सब कुछ जानते–सुनते हुए भी छल करके बैठा ही रहा। कुछ देर बाद जब

स्वयं उठकर बाहर आया तो तत्काल ही उसकी आँखों की दृष्टि मन्द पड़ गई। बहुत कम दीखने लगा। इस प्रकार सन्त के समीप दम्भ करने का फल उसे किसी अज्ञात शक्ति के प्रकोप से देखना पड़ा।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि सन्त महापुरुषों की समीपता में प्रायः सभी को शान्ति का अनुभव क्यों होता है? इसका मुख्य कारण यह है कि सन्त महापुरुषों के चारों ओर सात्विक भावों तथा विचारों की शक्ति पूर्ण लहरें भरी रहती हैं उन्हीं विशुद्ध भावों एवं विचारों के प्रभाव से समीप पहुँचने वाले व्यक्ति में कुछ देर के लिये भाव एवं विचार का क्षेत्र कम्पित हो उठता है और निम्न क्षेत्रों की क्रिया कुछ समय के लिये शान्त हो जाती है। क्योंकि मन की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं साथ ही बुद्धि को ऊर्ध्वोन्मुख होने का अवसर मिलता है। सन्तों की समीपता में पहुँचने वाले व्यक्ति के प्राकृतिक द्रव्य जितने ही अधिक शुद्ध होते हैं उतने ही अधिक वे सात्विक भावों एवं विचारों द्वारा कम्पित होते हैं क्योंकि प्रत्येक प्रकार की शक्ति का प्रभाव सजातीयता में ही अधिक पड़ता है। दिव्यता का प्रभाव जितना मानवी प्रकृति में अधिक उतरता है उतना दानवीय प्रकृति में नहीं उतरता।

यों तो प्रायः सभी दर्शकों को श्री स्वामी जी की समीपता में शान्ति का अनुभव होता था फिर भी उन व्यक्तियों की परितृप्ति तो बहुत ही अधिक होती थी जो पहिले से ही सत्वगुणी प्रकृति को जाग्रत किए हुए थे।

प्रेमी पाठक यह पढ़कर और भी आश्चर्यचकित होंगे कि स्वामी जी को अपने द्वापर युग में होने वाले जन्म का भी पता था और ये द्वापर युग से चले आने वाले अपने तीन शत्रुओं को भी देखते थे। साथ ही स्वामी जी उन अपने सम्बन्धित मित्र जीवात्माओं को भी जानते थे जो वर्तमान में जन्म ले चुके थे अथवा अदृश्य जगत में निवास कर रहे थे।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि हमारे चरितनायक श्री स्वामी जी महाराज असोथर में ही विशेष क्यों ठहरे?

प्रायः साधारण व्यक्तियों में भी यह देखा जाता है कि पूर्व स्मृति के आधार पर ही उनमें वर्तमान व्यवहार का ज्ञान दृढ़ होता है। इतना अन्तर अवश्य रहता है कि मायाबद्ध मनुष्यों की स्मृति वर्तमान जन्म के कुछ सीमित वर्षों तक ही शेष रहती है इसके विपरीत जिनके अन्तःकरण के आवरण हट जाते हैं, दिव्यदृष्टि खुल जाती है उन सन्त महात्माओं के शुद्ध मन में सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्व होने वाले जन्मों की भी स्मृति जाग्रत रहती है। अतः उनका ज्ञान भी उस दिव्य स्मृति के अनुसार होता है।

प्रेमी पाठक को यह रहस्य भी ध्यान में रखना चाहिये कि जो प्राणी पुण्यवान एवं धर्म परायण नहीं होते उनका जन्म भी इस भूतल पर शीघ्र ही होता रहता है क्योंकि वे प्रायः स्वर्गलोक तक नहीं पहुँच पाते। मृत्यु के बाद भुवर्लोक के निचले खण्डों से ही लौटकर पुण्यहीन

जीवों का पृथ्वी पर जन्म होता रहता है। पुण्यशाली जीवात्मा ही स्वर्ग तक पहुँच होती है। जो जीवात्मा स्वर्ग के जितने ऊँचे खंडों तक पहुँच पाता है उतने ही अधिक दीर्घकाल तक उसका वहाँ निवास रहता है। यदि कोई धर्मात्मा पुरुष अपने उच्चतम पुण्यों के अनुसार देवलोक में पहुँच जाता है तो वह पृथ्वी पर हजारों वर्ष बाद जन्म लेता है।

महाभारत काल में श्री स्वामी जी महाराज महात्मा कर्ण के नाम रूप में थे। उस शरीर को श्री स्वामी जी महाराज अब भी कभी–कभी ध्यान में देखते थे। उस रूप में रहकर जितनी अधिक दानशीलता आपको प्राप्त हो सकी थी उतनी दानशीलता भगवान के महाभाग्यवान भक्त सखा अर्जुन को भी प्राप्त न थी। परम प्रेममय सर्व समर्थ भगवान श्री कृष्णाचन्द्र जी भी अपने भक्त अर्जुन के सम्मुख जिसके अद्वितीय पराक्रम एवं आदर्श दानशीलता की बड़ाई करते रहते थे उनके पुण्य प्रताप की भला क्या सीमा बताई जा सकती है।

निस्संदेह उस परम वीरगति के फल रूप में अनन्त पुण्यों के बल से हमारे स्वामी जी महाराज को भी उच्चतम स्वर्ग की प्राप्ति हुई होगी और वहाँ से यह सहस्रों वर्ष बाद इस भूतल पर उतरे हैं। स्वामी जी के कथन से यह ज्ञात हो सका कि वे महाभारत काल से लेकर अब तक प्रवृत्ति मार्ग में न उतरकर निवृत्ति मार्ग में ही बढ़ते आ रहे हैं।

तर्क से भी यही सिद्ध होता है कि जिस महान् पुरुष ने महाभारत काल में भगवान से किसी प्रकार की भी सन्निकटता प्राप्त की हो तथा महान् ऐश्वर्य भोग के बीच से निकलते हुए समरांगण में भगवान के दिव्य दर्शन करते हुए शरीर का त्याग किया हो वह भला फिर क्यों संसार चक्र में फँसेगा?

हाँ, कुछ थोड़ी सी यह कमी अवश्य रह गई कि परात्पर तत्त्व के साकार दर्शन करते हुए भी उस समय किसी अन्य कर्त्तव्य की पूर्ति के निमित्त प्रबल धुन थी।

उस समय का धर्म कुछ और ही था। न तो वहाँ मोक्ष प्राप्ति का संकल्प ही था और लक्ष्य ही; अतएव मोक्ष प्राप्ति के लिये इन्हें अन्य जन्म धारण करने पड़े। इन जन्मों में भी श्री स्वामी जी केवल तप एवं त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में परमानन्द स्वरूप परात्पर परम तत्व के योगी हुए।

हमें बीच में उठे इस प्रश्न पर भी विचार करना है कि स्वामी जी ने असोथर में ही अधिक काल तक निवास क्यों किया? यह तो प्रथम ही बताया जा चुका है कि पूर्व स्मृति के आधार पर ही वर्तमान के विचार, भाव एवं कर्म होते हैं। स्वामी जी के वर्तमान जीवन में जिस प्रकार के कर्म भाव एवं ज्ञान का दर्शन मिलता है वह इस जन्म के कुछ वर्षों की स्मृति के आधार पर अवलम्बित नहीं है। इस जीवन के कर्म, भाव तथा विचारों का आधार है महाभारत कालीन जीवन की

स्मृति। श्री स्वामी जी महाराज असोथर राज्य की वन भूमि की ओर इसलिये विशेष आकर्षित थे कि यह असोथर महाभारत कालीन महापुरुष द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का बसाया हुआ था। आज के भग्नावशेष गृह चित्रों को देखकर भी अनुमान होता है कि किसी समय यह बहुत बड़ा नगर रहा होगा। इस समय तो उसकी परिधि कंटकाकीर्ण वृक्षावलियाँ और कहीं–कहीं उपजाऊ खेत बन गये हैं। स्वामी जी का उन्हीं स्थानों और उन्हीं व्यक्तियों के प्रति विशेष ध्यान था जिनसे कई जन्म पूर्व का सम्बन्ध चला आ रहा था किन्तु इस रहस्य को उनके अति निकटवर्ती विशेष प्रेमी जनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति न जान सके।

श्री स्वामी जी के निकट सम्पर्क में जो भी व्यक्ति आ सके उन सबका किसी न किसी प्रकार का पूर्व जन्मों से ही सम्बन्ध था। स्वामी जी ने अपने पूर्व परिचित जीवात्माओं को खोज–खोज कर उनकी भिन्न–भिन्न योग्यताओं के अनुसार किसी को गति, किसी को सद्गति और किसी को परमगति प्रदान की। वीतराग निष्काम योगी इतने परितृप्त अपने में शान्त और आनन्द से छके रहते हैं कि उनमें संसार से किसी प्रकार की चाह एवं इच्छा का स्फुरण ही नहीं होता। स्वयं अतृप्त और अपूर्ण यह जगत पूर्ण परितृप्त महापुरुष को भला दे ही क्या सकता है।

ऐसी दशा में फिर एक परमयोगी अपनी महिमा और अपनी शक्ति का परिचय देने के लिये क्यों उत्सुक होगा? यदि कोई परमार्थी

साधक मान बड़ाई की लिप्सावश अपनी विशेषता अर्थात् सिद्धियों का वर्णन करता है तो वह तत्त्वनिष्ठ योगियों की दृष्टि से गिर जाता है क्योंकि यह कार्य गुरुता में लघुता का परिचायक है।

संसार से मिलने वाले सुखैश्वर्य एवं मान बड़ाई के प्रति श्री परमहंस जी निरीहता एवं निःसंकल्पता को प्राप्त कर चुके थे। यही कारण है कि इनके महान कृत्यों का परिचय मानव समाज को भलीभांति न प्राप्त हो सका। ये बालकों के साथ खेलते हुए ब्रह्मात्मैक्य बोधानन्द में निरन्तर छके रहते थे। इनकी हँसती हुई आँखों से निकलने वाली पवित्र हर्षमयी किरणें चारों ओर फैली रहती थीं। इनकी समीपता में पहुँचते ही शेर और सांप के समान भयानक प्रकृति वाले मनुष्य भी कुछ देर के लिये सात्विक भावों से अभिभावित हो जाते थे। भय इनके समीप से सदा के लिये भाग गया था। मोह ने इनके हृदय में दिव्य प्रेम का रूप धारण कर लिया, काम के लिये तो मानो इन्होंने अपना अदृश्य तृतीय शिवनेत्र ही खोल रखा था। लोभ तो लज्जित होकर इनके सम्मुख कभी अपना मुख ही न दिखाता था। यह महापुरुष क्रोध रूपी विष का नीलकंठ बन, पानकर सदा के लिये निश्चित हो चुके थे। इन्होंने ही ममता को समता की डोरियों में अपने साथ बाँध रक्खा था। अभिमान को तमाल पत्र की भांति मलकर मुख में रखते और थूक दिया करते थे। इसी प्रकार अहंकार को भी सत्वरूप के ज्ञान सागर में सदा के लिये इन्होंने डुबो दिया था।

पाशविक वासनाएँ और अहंकारिक महत्वाकांक्षाएँ मनुष्य की प्राणशक्ति को अधोगामिनी बनाकर उसके आत्मिक जीवन को बद्ध बना देती हैं। इसलिये इनका विरोध करना बन्धन निवृत्ति के लिये अत्यावश्यक है।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्वामी जी की विभूति में रोग निवारण की शक्ति कहाँ से आती थी। ये कोई यान्त्रिक तान्त्रिक तो थे नहीं ये तो वीतराग परमसन्तुष्ट महात्मा थे। यदि ये किसी जादू–टोना द्वारा अभावग्रस्त एवं संकटों से पीड़ित मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करते भी तो क्यों करते? प्रपंचासक्त एवं भोगासक्त मानव के पास ऐसी कौन सी विशेष सम्पत्ति है जिसे देकर वह किसी विरक्त सन्त को सन्तुष्ट कर सके।

स्वामी जी परम ज्ञानी हैं अतएव सांसारिक सुखों और सुखद वस्तुओं से पूर्ण विरक्त थे। विरक्त होने के कारण ही ये अपनी शक्ति का दूसरों की सेवा–सहायता में दान कर सके हैं। इनकी दी हुई विभूति एवं किसी भी वनौषधि के पीछे इनकी संकल्पशक्ति तथा इनके शरीर से निःसृत प्राण धारा काम करती थी इसी से पात्र भेद के अनुसार सबको लाभ होता रहता था।

जैसे विद्युत शक्ति का संग्रह बैटरी में रहता है वैसे ही योगियों के शरीर में भी शक्ति संग्रहीत रहती है। योग साधना में जितना उत्कृष्ट तप अथवा संयम सुदृढ़ होता है उसी क्रम से योगी के अन्तः

शरीरस्थ चक्रों में शक्ति राशि का संचय होता रहता है। शक्ति योगी के हाथों की अंगुलियों के अग्र भाग से तथा नेत्रों से विशेष रूप से निकलती रहती है और समस्त शरीर के चारों ओर सामान्य रूप से फैलती रहती है।

भावों और विचारों द्वारा वही शक्ति अत्यन्त तीव्र धारा से निर्दिष्ट लक्ष्य में काम करती हैं। यही कारण है कि योगी महात्माओं के समीप बैठने मात्र से अद्भुत सन्तोष एवं शान्ति का अनुभव होता है। योगी महापुरुष के मौन रहने पर भी उसके भाव तथा विचार कम्पनों से मानव जगत को उच्च प्रेरणा प्राप्त होती है। ऐसे शक्ति सम्पन्न योगी के हाथ से स्पर्श की हुई वस्तु में शक्ति के वे परमाणु भर जाते हैं जो प्राकृतिक विकारों का संशोधन करने में समर्थ होते हैं।

श्री परमहंस जी में भी यही उच्चतम शक्ति थी। इसी शक्ति के योग से स्पर्श की हुई विभूति में इनके स्पर्श किये हुए जल में तथा किसी के प्रति स्वयं हृदय से प्रेरित की हुई भावनाओं एवं विचारों में वह अद्भुत प्राण शक्ति ओत प्रोत रहती थी जिससे श्रद्धालु भक्तों को लाभ होता था। हमने प्रायः यह देखा है कि जब स्वामी जी किसी को विभूति (राख) देते थे तब कुछ देर उसे हाथों से मलते रहते थे उस विभूति को स्वयं लगाते और बाँटते भी रहते थे। जब किसी दूरस्थ दुःखी व्यक्ति का दुःख निवारण करना होता था तो नेत्र बन्दकर ध्यान द्वारा शक्ति कम्पन उसके पास भेजते थे। सैकड़ों मील की दूरी होने पर भी शक्ति धारा के द्वारा विपदाग्रस्त भक्त की सहायता करते थे।

जब कोई सेवक भक्त व्याधिग्रस्त होता तब पहिले तो अपनी शक्ति अनुसार उपचार करता। जब उपचारों से लाभ न होता तब स्वामी जी का ध्यान करता था। कभी–कभी तो गुरुदेव के ध्यान करने मात्र से ही इनकी ओर से उसे स्वास्थ्यप्रद शक्ति मिल जाती थी। किन्तु यदि कोई ध्यान न कर सकता था तो अपने सम्बन्धी द्वारा स्वामी जी के पास सूचना भेजने पर दूरातिदूर से ही अपनी यौगिक पद्धति द्वारा व्याधिग्रस्त सेवक की सहायता करते थे। प्रायः यही देखा गया कि सूचना लाने वाला व्यक्ति जब घर पहुँचता तो उसे व्याधि पीड़ित व्यक्ति अपनी पूर्व अवस्था की ओर लौटता हुआ मिलता अर्थात् उस रोगी को रोग मुक्त ही पाता था।

योगी महात्माओं के सूक्ष्म शरीरस्थ आन्तरिक चक्र उनके प्रबल तप अथवा संयम द्वारा जाग्रत हो निम्न मुखी न रहकर ऊर्ध्वोन्मुख हो जाते हैं। योगी के उन्हीं चक्रों में प्रकार भेद से भिन्न–भिन्न लोकों की बहुगुणी शक्ति जाग्रत होकर क्रियाशील होती है। उसी शक्ति से योगी जो संकल्प करता है वह तत्क्षण पूर्ण होता है। किसी चक्र की शक्ति स्थूल कामनाओं एवं इच्छाओं को पूर्ण करा देने में समर्थ होती है।

किसी चक्र की शक्ति से उन उच्चतम भावनाओं की पूर्ति होती है जिनकी पूर्ति भौतिक बल से कभी भी नहीं हो सकती। किसी चक्र की शक्ति के प्राबल्य से अत्यधिक प्रेमभाव बुद्धिगत होता है और किसी चक्र के जाग्रत अथवा उन्मुख होने पर स्मृति और प्रज्ञा को

आश्चर्यजनक बल प्राप्त होता है जो कि योगी की उच्चतम सिद्धि में सहायक होता है।

श्री परमहंस जी के जीवन में बाह्य रूप से शक्तियों का खुल कर कहीं प्रदर्शन नहीं मिलता। प्रदर्शन के क्षेत्र में तो यह कभी उतरे ही नहीं, फिर भी अपने निकटस्थ प्रेमी भक्तों के प्रति रक्षणार्थ सहायता तो इन्हें प्रत्यक्ष रूप में करनी ही पड़ती थी। इसी से इनकी असाधारण यौगिक शक्ति का परिचय मिलता है। श्री स्वामी जी महाराज सांसारिक वस्तु तथा व्यक्ति के संयोग–वियोग–जनित सीमा से परे रहते थे। इनके ज्ञान की व्याप्ति इतनी विस्तृत थी, जिसे साधारण बुद्धि नहीं समझ सकती। इनके अधिकार में जीवात्माओं का कितना बड़ा समुदाय है उसे सब लोग नहीं देख पाते। ये अपने अधिकृत जीवात्माओं को जब जहाँ उचित समझते हैं वहीं जन्म लेने को प्रेरित करते हैं तत्पश्चात् मृत्यु पर्यन्त उनकी देखरेख रखते हुए उनकी सद्गति के साधन सुलभ करते हुए अदृश्य रूप से उनकी सहायता करते रहते हैं।

योगी की महत्ता को योगीजन ही जान सकते हैं। योगी अपने संकल्प मात्र से कहीं नव सृजन और सृष्टि कलेवर की शुद्धि के लिए संहार का वातावरण भी रचा करते हैं। साधारण मानव समाज तो स्थूल कार्यों को ही देख पाता है परन्तु कारण ज्ञान से अनभिज्ञ रहता है। विश्व के बड़े–बड़े युद्ध और उनके मध्य अथवा अन्त में संधि

(सुलह) के यही योगीजन प्रेरक होते हैं। योग पथ में जो संयम की साधना है यह अत्यंत ही रहस्यमयी है।

इस एक संयम साधना से ही योगी में अलौकिक शक्तियाँ जाग्रत होती है। योगी के स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों से तो मनुष्य के समान ही क्रिया होती है किन्तु इनके प्राणमय क्षेत्र की संयमित शक्ति द्वारा बहुत बड़े–बड़े कार्य पूरे होते हैं।

भोगी मनुष्यों में यह प्राणमय क्षेत्र की शक्ति इन्द्रियों द्वारा विविध विषय जनति सुखों में नष्ट होती रहती है। परन्तु योगी इन्द्रियों को संयम में रखते हुए शक्ति के अधोमुखी प्रवाह को ऊर्ध्वोन्मुखी बनाकर अपने पवित्र संकल्पों की पूर्ति में प्रेरित करते रहते हैं। यही कारण है कि श्री परमहंस जी महाराज द्वारा दी गई किसी भी औषधि से अथवा इनके दिये खाद्य एवं पेय पदार्थ से तथा विभूति से रोगियों के नाना प्रकार के रोग, कभी–कभी तो असाध्य रोग भी दूर हो जाते थे। इसका एकमात्र कारण स्वामी जी के स्पर्श मात्र से उन पदार्थों में विशुद्ध प्राणतत्व का समावेश हो जाना ही था जो कि दुर्बल जीवन को शक्ति प्रदान करता है।

यहाँ पर रहस्यपूर्ण भेद समझ लेना चाहिए कि योग संयम के द्वारा संग्रहीत शक्ति से सदैव एक समान सभी संकल्पों की सिद्धि नहीं होती। जितना ही इस शक्ति से अधिक काम लिया जाता है उतनी ही यह क्रमशः क्षीण होती जाती है। इसीलिये योगी पुरुषों में

सदैव एक सा चमत्कार नहीं पाया जाता। जैसे शक्ति का क्रमशः विकास होता है वैसे ही शुभ या अशुभ संकल्पों में उसका उपयोग करने से ह्रास भी हो जाता है। जैसे बैटरी में भरी हुई विद्युत शक्ति आरम्भ में अधिक दूर तक प्रकाश फेंकती है और क्रमशः मन्द होती जाती है वैसे ही प्राणमय क्षेत्र में संयमित शक्ति की क्रिया का भी यही क्रम रहता है; क्योंकि यह शक्ति स्थूल तत्त्वों से बनती और स्थूल कार्यों में ही काम आती है।

मनोमय क्षेत्र में संयम के द्वारा संग्रहीत शक्ति प्राणमय क्षेत्र की शक्ति से कहीं अधिक सूक्ष्म होती है और उसकी क्रिया बहुत सूक्ष्म रूप से सद्भावनाओं के पथ में हुआ करती है। अपनी वासनाओं इच्छाओं को निरुद्ध करके जिस शक्ति को ऊर्ध्वोन्मुख रखा जाता है वही शक्ति दूसरों की मनःस्थिति बदल देने में समर्थ होती है। इसी शक्ति के बल पर स्वामी जी कितने ही पतित जीवों की मनोदशा को पलटकर और असत् पथ से मोड़ कर सत्पथ में लगा देते थे।

इसी संयमित मनःस्थिति के द्वारा ये श्रद्धालु भक्तों की मनःस्थिति को समझ लिया करते थे। साथ ही सैकड़ों मील की दूरी पर भी अधिकारी श्रद्धालुओं को, जहाँ जैसी उचित समझते वहाँ वैसी ही शक्ति प्रदान किया करते थे, सत्प्रेरणायें देते थे। इसी शक्ति द्वारा अपने भक्तों की भयानक परिस्थितियों एवं संकटों से रक्षा करते थे, निरभिमानी इतने थे कि ऐसी सेवा सहायताएँ करते हुए भी किसी के सन्मुख यथाशक्ति प्रगट न होने देते थे। अत्यन्त निकटवर्ती लोग भी,

वर्षों बाद प्रकाशवश यदि कभी कुछ चर्चा उनके मुख से निकल जाती थी, तब कुछ जान पाते थे।

भक्तों अथवा तत्वनिष्ठ सन्तों में सीमित अहंकार का अभाव रहता है। वे तो अपने आपको परमात्मतत्व में ही अनुभव करते हैं। उन्हें मारने वाले और प्यार करने वाले में एक ही परमाधार परमात्मा दीखता है। पूर्ण ज्ञानी एवं भक्त प्राकृत संघर्षमय व्यापारों से नित्य ऊपर उठे रहते हैं। उनके हृदय में न किसी से राग होता है न द्वेष। इसीलिये तत्वनिष्ठ भक्तों की सहायता वह दिव्य शक्ति किया करती है जो जगत रूप अनेकता का धारण कर रही है। श्री परमहंस जी महाराज अपने द्वारा होने वाली दूसरों की उपकार कथा को सुनकर केवल यही कह दिया करते थे कि ''परमात्मा की ओर से ही सब कुछ होता है।'' जब कभी किसी भक्त पर दुःख आता, जो कोई भी अपना दुःख स्वामी के पास आकर प्रकट करता, तो ऐसा प्रतीत होता था मानो ये महानुभाव उसकी ओर से स्वयं प्रार्थना कर रहे हैं। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि यदि किसी सन्त का संकल्प दूसरों की दुःख–निवृत्ति के लिये हो तो उस संकल्प को पूर्ण होना ही चाहिये। यह दूसरी बात है कि किसी विशेष कारणवश वह संकल्पपूर्ण न हो पाये।

अपने शरणागतों से श्री स्वामी जी निश्चित रूप से कभी यह न कहते थे कि अमुक कार्य की सिद्धि हो ही जायेगी। वे सदैव ऐसे

प्रसंगों को प्रभु की मर्जी पर छोड़ देते थे किन्तु प्रयत्न अवश्य करते रहते थे।

जिला फतेहपुर शिलभी ग्राम के ठाकुर श्री पाल सिंह जी श्री स्वामी जी के अनन्य प्रेमी भक्त थे। उनके कन्याएँ कई थी किन्तु पुत्र न था। ये गुरुदेव की सेवा में बहुत ही उदार थे। श्री स्वामी जी की इच्छा थी कि ऐसे भक्त के एक पुत्र अवश्य होना चाहिए। सन्त के संकल्प की पूर्ति हुई। श्रीपाल के घर में पुत्र रूप एक जीवात्मा आया। सात आठ वर्ष के बाद वह बीमार हुआ। अनेक इलाज किये गये। स्वयं श्री परमहंस जी ने भी सात मास तक उस बालक के पास रहकर देखभाल की और अपनी बहुत कुछ शक्ति लगाई परन्तु प्रारब्ध पर विजय न मिली।

एक दिन वह जीव शरीर छोड़कर चला गया। इससे यह ज्ञात हुआ कि कभी—कभी प्रारब्ध भोग इतना प्रबल होता है कि उसके आगे पुण्य प्रयत्न शक्ति नहीं बढ़ पाती। श्री स्वामी जी ने उस पुत्र को रोकने तथा पुत्र वियोगरूपी कर्म भोग को मिटाने के लिये ठाकुर श्री पाल सिंह से कितने ही पाठ—पूजन, दान—पुण्य करवाये किन्तु पूर्व कर्म भोग न मिट सका।

अन्त में उस जीव के न रहने पर फिर स्वामी जी ने एक पुत्र और होने का आशीर्वाद देकर ठाकुर साहब को सान्त्वना प्रदान की और स्वयं उस शोकाकुल परिवार से दूसरे स्थान को चले आये। कुछ

दिन बाद पुत्र रूप में उन्हें एक जीवात्मा प्राप्त हुआ। ''कर्मणां गहना गति'' के अनुसार यथार्थ में कर्म की गति अति गहन है, उसकी कुछ थाह नहीं मिलती।

श्री परमहंस जी सभी पुत्रहीनों को सुपुत्र होने का, सभी निर्धनों को धनवान होने का आशीर्वाद देते हों, ऐसी बात न थी, ये बड़े जोरों के साथ प्रारब्ध–भोग का समर्थन किया करते थे। हाँ, पुरुषार्थ से भोग परिवर्तन की आशा अवश्य दिला देते थे। श्री सद्‌गुरु के सहस्रों भक्तों में से कुछ ऐसे भक्त भी हैं जो इनकी उपासना चातकी वृत्ति से आजीवन करते चले आ रहे हैं।

कुछ भक्तों को यदि इच्छित सुख के लिये वरदान मिला तो कुछ भक्तों को भक्ति के पथ में चलकर आजीवन तपस्या का अवसर मिला। उन्हें इस तप के बदले में क्या मिलेगा, इस रहस्य को भगवान ही जानें।

इन सन्त के हृदय में दया इतनी अधिक थी कि बार–बार वही पाप अपराध करने वाले व्यक्ति जब दुःखी होकर इनकी शरण आते तो ये सदा की भाँति सहायता ही करते। ग्लानि घृणा किसी से न करते थे चाहे कोई कितना ही अपराधी क्यों न हो।

एक साधक इन सन्त की शरण में आकर रहने लगा। कुछ समय तक उसने बहुत उग्र तप किया, जिसके परिणाम स्वरूप उस साधक में कुछ सिद्धियाँ भी आ गई और उसे यह अभिमान हो गया

कि ‘हम भी गुरुदेव के समान ही उच्च महात्मा हो गए।’ कभी–कभी गुरुदेव के प्रति व्यंग्य भी बोलने लगा। कुछ दिनों में ही वासना ने ऐसा पछाड़ा कि बिचारा पथभ्रष्ट होकर पागल की भांति घूमने लगा। उस साधक की विक्षिप्त दशा को अन्तर्यामी गुरुदेव ने ध्यान से देखा। उस समय ये परमहंस जी असोथर में ही ठहरे थे, वहीं से आपने सेवक भक्त को बताया कि गंगातट पर अमुक साधु घूम रहा है। इतना कहकर कितने ही मील पैदल यात्रा करके उस साधक साधु को अपने साथ पुनः रखने की दया की परन्तु पूर्व संस्कारवश उस साधक में वह श्रद्धा वह पवित्रता न आ सकी, जिसके कारण उसकी तपस्या सफल होने लगी थी। अभिमान को तो भगवान् भी नहीं क्षमा करते। सन्त की दया होने पर भी अभिमानवश उस साधना में पतन रूपी दण्ड उसे भोगना पड़ा।

एक बार मैंने अवसर पाकर एक व्यक्ति के विषय में श्री स्वामी जी महाराज से पूछा– ‘अमुक व्यक्ति गृह–परिवार त्याग कर साधनाभ्यास करने की प्रार्थना कर रहा है, उसे आप क्यों नहीं आज्ञा देते?’ श्री स्वामी जी महाराज ने तुरन्त कह दिया–‘उसका तो विवाह होना है वह गृहस्थ बनेगा, साधु नहीं।’ मुझे उस समय श्रीमुख के यह वचन सुनकर आश्चर्य हुआ परन्तु मैंने देखा कि कई मास तक वह व्यक्ति स्वामी जी के पास रहकर पुनः अपने घर लौट गया और कुछ वर्षों बाद ही उसका विवाह हो गया तथा विरक्त होने के बजाय वह अत्यन्त भोगासक्त और धनासक्त देखा गया। यह देखकर ही मेरी

समझ में आया कि स्वामी जी उस व्यक्ति के भविष्य को पहले से ही जानते थे। यही कारण था कि उसे इन्होंने अपनी शरण में रहने की स्वीकृति नहीं प्रदान की।

यद्यपि ऊपर से वह व्यक्ति विनम्र, श्रद्धालु, सदाचारी और संयमी दीखता था परन्तु स्वामी जी ने उसके विपरीत भविष्य को देख उसे घर लौट जाने की ही सम्मति दी। इसके विपरीत एक ऐसा व्यक्ति जो आसुरी स्वभाव का दुर्व्यसनी असंयमी था और जो किसी संकट से बचने की आशा से अथवा किसी किसी सुख के प्रलोभनवश गृहत्याग करना चाहता था उसे स्वामी जी ने गृह त्याग की सम्मति दे दी। यह सब देखकर यही कहना पड़ता कि इनकी बातों का अर्थ दूसरा कोई तब तक नहीं समझ सकता जब तक कि ये स्वयं न समझाये।

श्री परमहंस जी महाराज किसी से घृणा करना तो जानते ही न थे। यदि कभी कोई किसी के दोषों को उनके सम्मुख प्रकट करता तो इन्हें उस दोषी पापी के प्रति दया आ जाती थी। हमारे स्वामी जी महाराज तो किसी से भी घृणा न कर सबके प्रति सहानुभूतिपूर्वक स्नेह करते हुए सबका कल्याण ही चाहते आये। इनके निर्मल नेत्रों एवं पवित्र अधरों में तो करुणा और क्षमा प्रतिपल छलका करती थी। अनेक कल्याणर्थी व्यक्ति अपने–अपने घर बार छोड़ परमहंस जी के साथ रहने लगे।

इनकी शरण में जो कोई भी आ जाता, उसे ये भगाते न थे। सबकी भिन्न–भिन्न प्रकृति थी। शंकरजी का सा समाज बन गया था। इस समाज में कोई रोगी तो कोई खास पहलवान, कोई शिक्षित तो कोई निरक्षर भट्टाचार्य, कोई स्वल्पाहारी तो कोई अत्याचारी, कोई फलाहारी तो कोई अपक्वान्नाहारी, कोई मौन तो कोई महावाचाल, कोई सब प्रकार के व्यसनों से कोसों दूर तो कोई सम्पूर्ण व्यसनों की साक्षात् मूर्ति, कोई तपप्रेमी तो कोई श्रृंगार–प्रेमी, कोई परमार्थी तो कोई महाप्रपंची, इस प्रकार अनेक प्रकार की मूर्तियाँ एकत्र हुईं और इन सभी प्रकार के व्यक्तियों के प्रति स्वामी जी का बहुत ही सरल स्नेह था, साथ ही कुछ अनोखा–सा व्यवहार था। स्वामी जी किसी से तो कहते 'रूखा–सूखा जो कुछ मिले, थोड़ा खाना चाहिए, गरीब दिल से सदा भजन करते रहना चाहिए' इसके विपरीत किसी से कहते 'खूब पेट भर खाना चाहिए, किसी से न दबना चाहिए, तगड़े होकर रहना चाहिए' इत्यादि उपदेश प्रकृति भेद से जिसके जो अनुकूल था वही दिया करते थे।

भिन्न–भिन्न स्वभावानुसार ये किसी साधु को तो यह शिक्षा देते कि कोई दुर्व्यसन न करना चाहिए; चरस, गाँजा, भाँग आदि न पीना चाहिए किन्तु कभी–कभी किसी व्यसनी साधु को चरस, गाँजा के लिये स्वयं पैसे दिला देते थे। अपने समीप बैठे किसी साधु को एकान्त में जाकर जप करने के लिये उठा देते थे और कभी–कभी एकान्त में

बैठकर जप करने वाले साधु को नर–नारियों के समुदाय में बुलाकर बैठा दिया करते थे। इनकी सभी बातों के बहुत ही गूढ़ अर्थ थे।

श्री परमहंस की शिक्षा का भी कुछ अनोखा ही ढंग था। ये किसी को शब्दों द्वारा अधिक समझाने का प्रयास न करते थे प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरंग प्रकृति को भली भांति समझते रहते थे, तदनुसार ही इन्हें प्रत्येक व्यक्ति की जीवन–गति के क्रम का परिज्ञान था। बस उसी क्रम से हर एक के चलने का मार्ग सुलभ कर देते थे। स्वामी जी को किसी की उन्नति के आगे आने वाला पतन प्रथम से ही दीख जाता था और किसी की पतित दशा के आगे आने वाले उत्थान का भी दूर से ही दर्शन हो जाता था। वास्तव में समर्पित जीवन का संरक्षण और पथ प्रदर्शन अलौकिक विधि से ईश्वरीय शक्ति द्वारा ही हुआ करता है। विरक्त तत्वनिष्ठ सन्तों अथवा समर्पित भक्तों की सेवाओं का उत्तर और उनके अनादर का उत्तर भी उसी परमेश्वरीय शक्ति की ओर से वरदान पुरस्कार या दण्ड के रूप में मिला करते हैं।

कभी–कभी ऐसा भी देखा गया कि स्वामी जी ने तो भक्त की अभिलाषा पूर्ण करनी चाही किन्तु चेष्टा करने पर भी वह पूर्ण न हो सकी। जहाँ पर ऐसे भक्तों की भीड़ दिखाई देती है जिनके लिये स्वामी जी ने जब जैसा कहा तब वैसा ही हुआ। वहाँ पर दो–एक ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि किसी–किसी की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये वर्षों प्रयत्न करने पर भी सफलता न मिली। कारण की खोज

करने पर यह ज्ञात हुआ कि जब किसी की अभीष्ट सिद्धि दुष्कर्मवश न होती थी तब स्वामी जी उस व्यक्ति से कुछ दान या जन सेवा साधु–सेवा आदि सत्कार्य कराकर पुण्य संचय कराते थे। स्वामी जी का कथन है कि ''पुण्य कार्य बढ़ा देने से तथा परमात्मा का निरन्तर भजन करने से पूर्व के पाप नष्ट होते हैं। सुखेच्छापूर्ति में पुण्य संचय पापों को नष्ट करने की मात्रा तक न पहुँच पाता था, प्रायः उसी की अभिलाषा पूर्ण न होती थी।

जहाँ पर सैकड़ों भक्त ऐसे हैं कि परमहंस जी की कृपा से अपनी कामनाओं की पूर्ति का यशोगान गाते मिलते हैं वहीं पर दो–चार प्रेमी ऐसे भी दिखते हैं कि गुरुदेव ने अपनी कृपा में कोई कसर न रखी, फिर भी सेवक के अभीष्ट की सिद्धि न हो सकी।

परमहंस जी कर्मों के फल भोग को विशेष प्रधानता देते थे, अपनी समीपता में प्रेमी श्रद्धालु जीव को लेकर उसे तप त्याग तथा दान के द्वारा शुभकर्मी बनाने का प्रयत्न करते थे।

जब निकट रहने वाला जीवात्मा इन गुरुदेव को ध्यानावस्था में मिलता था तभी उसे भक्त मानते थे। इसके पूर्व हर एक जीवात्मा को भोग–सुख के पथ में अन्धाधुन्ध दौड़ते हुए उसे चोर तथा माया में भूला हुआ बतलाते थे।

प्रायः निर्धन गरीब भक्त स्वामी जी की समीपता में जितनी शीघ्रता से पाप मुक्त अथवा पुण्यवान बनते थे, उतनी शीघ्रता से

धनी–मानी व्यक्ति गुरुदेव के समीप रहते हुए भी उनके अन्तर ध्यान तक पवित्र होकर न पहुँच पाते थे। हमें ऐसे भक्तों का नाम नहीं प्रकट करना है परन्तु यह प्रगट है कि गुरुदेव के दया द्वार में गरीबों निरभिमानियों का प्रवेश जितनी अधिकता से हुआ उतनी मात्रा में धनिकों का मानियों का प्रयत्न करने पर भी न हो सका।

ये गुरुदेव किसी की बाह्य पूजा सेवा–सत्कार को महत्व न देते थे। इनका तो यह कथन था कि ''जो जीव निर्भय होकर ध्यान में हमसे मिले उसी को हम अपना निकटस्थ भक्त मानते हैं, ऐसे भक्त की ही प्रार्थना सुनी जाती है। जो जीवात्मा जितना ही अधिक गरीब निरभिमानी होगा, तेजस्वी और वीर होगा, वही ध्यानावस्था में हमसे मिल सकता है। जो ऐसा न होगा, उसकी वहाँ पहुँच नहीं हो सकती।'' श्री स्वामी जी प्रायः अपने श्रीमुख से ऐसा वर्णन किया करते थे।

श्री गुरुदेव की साकार मूर्ति तक प्रत्येक अधम से अधम जीव भी पहुँच सकता है किन्तु उनके दैवी मानस साम्राज्य में तो वही मानव प्रवेश पा सकता है, जो अनेक जन्मों से सुसंस्कारी हो, श्री सद्गुरु के प्रसाद से पुनीत होता चला आ रहा हो, जिसके जीवन में मनोमय एवं विज्ञानमय कोष दैवी संपत्ति से धनी हो रहे हों। बस, ऐसा शिष्य ही गुरुदेव के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया है ''आर्त्त जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।'' अर्थात आर्त्त और अर्थाथी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इस वर्ण के अनुसार श्री परमहंस जी के सन्मुख जितने भी भक्त आये, वे सब अधिकांश रूप में आर्त्त और अर्थार्थी कोटि के ही दिखते हैं। परमहंस जी की प्रसिद्धि अधिकतर इन्हीं बातों से बढ़ती गई कि नागा बाबा अत्यन्त सिद्ध पुरुष हैं। केवल विभूति देकर ही लोगों के रोग–दोष दूर कर देते हैं। जिसको जो कह दें, वह होकर ही रहता है। इनकी ऐसी महिमा सुनकर रोगियों की तो भीड़ लगी रहती थी। बहुत लोग धन की तथा अनेक नर–नारी पुत्र–प्राप्ति की आशा से ही स्वामी जी के दर्शनार्थ आते रहते थे। कुछ ऐसे भी थे जो किसी कारणवश स्वामी जी के समीप न आ सकने पर घर से ही ध्यान करते थे। श्री स्वामी जी सबकी सुनते और सभी को अपनी विभूति देते थे। जिनमें प्रगाढ़ श्रद्धा और दृढ़ विश्वास होता था, उनका उस विभूति से ही भला हो जाता था। जो पूर्व जन्म के सुसंस्कारी जीव होते, उनके विषय में तो परमहंसजी प्रथम ही बता देते थे कि कब किसका किस रूप में संयोग होगा और कब किससे वियोग होगा।

ये अपने भक्तों पर आने वाले संकटों की सूचना कभी संकेत द्वारा कभी स्पष्ट रूप से प्रथम ही दे दिया करते थे। बरई, कानपुर, फतेहपुर, इलाहाबाद आदि प्रान्तों के अनेक ग्रामों में न जाने कितने ऐसे भक्त हैं, जो स्वामी जी के आशीर्वाद से पैदा हुए हैं और उन

आने वाले कठिन क्रूर ग्रहों के संकट भी स्वामी जी की कृपा से कटे हैं। यदि ऐसी घटनाओं का वर्णन किया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। आज भी परमहंस जी के अनेक भक्त ऐसे हैं, जो अपने–अपने जीवन के पीछे उनकी अनोखी कृपा के द्वारा होने वाली आश्चर्यजनक अनेक घटनाओं का वर्णन करते हैं।

किन्हीं भक्तों की जीवन कथा से तो यह प्रकट होता है कि इस जीवात्मा के जन्म लेने के प्रथम से ही परमहंस जी इस जीव से सम्बन्ध रखते और इसे देखते रहते थे। कुछ कथाओं से यह ज्ञात होता है कि अपने निकट रहने वाली भक्त आत्माओं के ऊपर वर्षों बाद आने वाले पूर्व कर्मों के भोग को श्री स्वामी जी जानते थे। किन्हीं भक्त महानुभावों के जीवन में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि श्री परमहंस जी अपने योगबल से शरणागत भक्तों के अशुभ भोग में बहुत कुछ परिवर्तन (उलट–फेर) कर दिया करते थे।

श्री स्वामी जी महाराज निर्धन गरीबों का अधिक ध्यान रखते थे और प्रायः उन्हीं की सेवा भी स्वीकार करते थे। ग्रामीण मनुष्य अधिकतर साधारण बुद्धि के होते ही हैं, वे लोग प्रायः महात्माओं की उच्चतम ज्ञान–ध्यान की बातें नहीं समझ पाते जहाँ कहीं किसी महात्मा के विषय में सुना कि वे सिद्ध पुरुष हैं, उनकी विभूति से रोगियों के रोग दूर हो जाते हैं, यदि किसी को प्रसन्न होकर

आशीर्वाद दे दिया तो धन–पुत्र सभी कुछ सुलभ हो जाता है बस इन बातों को सुनकर वे सन्त पर प्रगाढ़ श्रद्धा करने लगते हैं।

श्री परमहंस जी के सैकड़ों हजारों श्रद्धालु प्रेमी हैं, उन सभी भक्तों को परमहंस जी की शरण से जो कुछ लाभ हुआ है, उसका वर्णन करना असम्भव सा ही है। कुछ ऐसे भक्त हुए, जिन्हें स्वामी जी की निकटता का सौभाग्य विशेष रूप से प्राप्त हुआ। परमहंस जी की दया, कृपा एवं शक्तिमत्ता का इन भक्तों को कुछ विशेष ज्ञान हुआ, जो कि पूर्णतया लिखा नहीं जा सकता।

सन्त की कृपा में एक विशेषता यह भी देखने में आती है कि ये जिस गृह में पहुँच जायें, परिवार के एक व्यक्ति ने भी यदि सन्त का आश्रय पकड़ लिया तो समझ लो उसके लड़के नाती, पोतों तक श्रद्धा, सन्त–सेवा की सद्भावना बढ़ती चली जायेगी। आध्यात्मिक संस्कार वंश–परम्परानुगत हो जाते हैं। चाहे जहाँ देखिए, जिस गृह में सन्त जाने लगते हैं, घर में जो कोई श्रद्धालु होता है, उसका प्रभाव छोटे–छोटे बच्चों में भी पड़ता है। आस–पास के अनेक मानवी प्रकृति वाले व्यक्तियों में सद्भावनायें जाग्रत होती हैं।

अपने अनेकों परिचित श्रद्धालु भक्तों के मध्य में से यहाँ पर हम बरई ग्राम (कानपुर) निवासी महाबीर सिंह जी का उदाहरण दे रहे हैं। इनकी माता परमहंस जी की अनन्य श्रद्धालु भक्त थीं। इसी ग्राम की एक घटना है कि जिस काल में परमहंस जी बाल भाव से सर्वत्र

अनिश्चित विचरण कर रहे थे, इनके नग्न वेष से कुछ लोगों को घृणा हुई वे आसुरी प्रकृति के प्राणी थे ही, एक वैश्या को कुछ द्रव्य के प्रलोभन से परमहंस के साथ रात भर रहने को राजी कर लिया। एक दिन सन्ध्या होने के पश्चात् एक कमरे में रात्रि निवास के लिये स्वामी जी को पकड़ ले गए। पहले ही वैश्या को समझा रखा था, उसे कमरे के भीतर करके बाहर से द्वार बन्द कर दिया। प्रातः परमहंस जी कमरे में नहीं पाये गए द्वार की जंजीर बन्द मिली और वैश्या अर्धविक्षिप्त दशा में अस्वस्थ पाई गई। उसने बताया कि उसने परमहंस जी का आलिंगन करना चाहा, इन्द्रिय स्पर्श किया तो नारियों की भाँति उनके अंग प्रतीत हुए और वह महाभयातुर होकर बेहोश हो गई। कुछ ही दिन अस्वस्थ रहकर वह मर गई और जिन व्यक्तियों का इस कारण में हाथ था वे भी बड़ी ही भयानक विपत्ति से ग्रसित होकर नाश को प्राप्त हुए।

इस घटना के पश्चात् 6 वर्ष बाद साढ़ ग्राम में परमहंस जी का आगमन हुआ, उस समय महावीर सिंह की आयु 6 वर्ष की थी माता परदे की प्रथा के कारण सहसा बाहर न निकल सकती थी परन्तु दर्शन के लिये विकल श्री परमहंस जी ने स्वयं आकर दर्शन दिये। माता ने बालक रूप में पुत्र को शरण में डाल दिया परमहंस जी ने बालक को ध्यानपूर्वक देखा और तीन ऐसी अल्पें बताई कि माता निराश होकर रोने लगी, तब सन्त ने रक्षा का आश्वासन दिया और कुछ वर्षों के भीतर एक–एक करके तीनों मरणासन्न दशाओं से कभी

विभूति दे करके कभी ध्यान द्वारा बालक की रक्षा की और प्रथम ही से महाबीर सिंह के भिन्न–भिन्न प्रकृति के पुत्र होने की भविष्यवाणी सुनाई, वैसा ही हुआ। जिस देवी के साथ महाबीर सिंह का ब्याह हुआ उसे भी पैदा होने से प्रथम ही बता दिया था कि अमुक प्रकार के घर में यह ब्याही जायेगी, वैसा ही सब आगे आया। आज तक उस कुटुम्ब में श्रद्धा भावना चली आ रही है। इसी ग्राम में शमशेर सिंह रईस आदि भी परम श्रद्धालु प्रेमी थे जिनको परमहंस ही ऐसे सन्त थे जो कि श्रद्धालु प्रेमी बना सके। आज भी उस परिवार में आध्यात्मिक संस्कार की भावना चली आ रही है।

इसी प्रकार की घटनाओं का अधिक वर्णन न करके हमें तो यह देखना है कि योगी अपनी तपःशक्ति से कितनी सरलतापूर्वक दूसरे जीवों के भाग्यचक्र का अध्ययन कर लेते हैं। वे जन्मपत्र तथा ज्योतिष विद्या के बिना ही जीव के शुभाशुभ कर्मों तथा इष्ट अरिष्ट ग्रहादिकों को जान लेते हैं। पुण्य कर्म करवाकर तथा स्वयं ध्यानयोग द्वारा उनका शमन भी कर देते हैं।

एक बार पाली–निवासी भक्त माता जी सपरिवार स्वामी जी को साथ लेकर संक्राति वर्ष पर गंगा स्नान करने के लिये जाजमऊ गई। साथ में यह लेखक भी था। स्वामी जी गंगा की रेती में बैठकर भोजन कर रहे थे। उसी स्थिति में सहसा बोल उठे ''बच गया''। पास में बैठी हुई माता जी आदि ने सुना और पूछा– ''महाराज क्या है? कौन बच गया?'' स्वामी जी ने स्पष्ट कुछ न कह कर संकेत

मात्र से ही प्रयागराज के संगम स्नान के समय अपने भक्त शिष्य पर आई हुई संकट की बात कही और मौन हो गये। फिर अधिक कुछ और पूछने का किसी को साहस न हुआ। बाद में पता चला कि स्वामी जी के एक शिष्य नाव पर जा रहे थे। नाव भयानक भँवर में पड़ गई थी। मल्लाह भी घबरा गये थे। शिष्य ने अत्यन्त भयातुर होकर श्री गुरुदेव का स्मरण किया। उसे वहाँ वह चमत्कार दीख पड़ा मानों किसी शक्ति ने धक्का देकर उस भयानक भँवर से नाव को निकाल दिया हो। उसी समय जाजमऊ में बैठे हुए श्री स्वामी जी के मुख से 'बच गया' ये शब्द निकल पड़े थे।

सन्त का ध्यान–योग

प्रत्येक साधक शिष्य को ध्यान का महत्व भली प्रकार समझ लेना चाहिए। वास्तव में ध्यान की गम्भीरता तथा दृढ़ता में ही ध्येय वस्तु का योग सम्भव है। बहुधा कुछ साधक शरीर को एक आसन में स्थिर करके नेत्र बन्द कर लेने की क्रिया मात्र को ध्यान मानते हैं। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि शरीर तथा इन्द्रियों की निष्क्रियावस्था मात्र से ध्यान नहीं सिद्ध होता। प्रत्युत इससे भी आगे मन की बिखरी हुई वृत्तियों का ध्येयाकार में केन्द्रित हो रहने का नाम ध्यान है अथवा एक की ही अभिलाषा को लेकर मन जब निर्विषय होकर उस एक ही में तल्लीन हो रहता है, बस मन की उस दशा को ही ध्यान कहते हैं। ध्यान वही है, जो भुलाने की चेष्टा करने पर भी भुलाया न जा सके। ऐसा ध्यान तभी सम्भव है जब ध्येयरूप के प्रति प्रगाढ़ प्रेम हो और वह प्रगाढ़ प्रेम तभी होता है जब प्रेमास्पद के योग की प्रबल अभिलाषा हो। जितनी ही अधिक किसी से मिलने की आवश्यकता प्रबल होती है उतनी ही उसके प्रति आसक्ति दृढ़ होती है। सुदृढ़ ध्यान में ही प्रियतम को आकर्षित करने की शक्ति होती है। सारांश, केन्द्रीभूत शक्ति का एक ही वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना ही ध्यान की तीव्रतर या तीव्रतम प्रगति है, जो कि ध्याता की अभिलाषा पूर्ण होने तक चलती रहती है।

यह तो हुई सच्चे प्रेमी के ध्यान की बात किन्तु जहाँ किसी की महत्ता, गुण, ऐश्वर्य, शक्तिमत्ता की चर्चा सुनकर उससे मिलने की जिज्ञासा इच्छा होती है और उसे पाने के लिये मन को अचंचल बनाने की जो विधियाँ काम में लाई जाती हैं, उसे ध्यानाभ्यास ही समझना चाहिए, ध्यान की स्थिति नहीं। वियोग अथवा अभाव की अवस्था में ही ध्यानाभ्यास आरम्भ होता है, पश्चात स्मरण–चिन्तन की दशाओं को प्राप्त करते हुए यथार्थ ध्यान की अवस्था आ जाती है। ज्ञान के अनुसार ही ध्यान होता है और ध्यान के तारतम्य द्वारा ही प्रेम की माप होती है। प्रार्थना, पाठ, कीर्तन, जप, स्मरण आदि साधन ध्यान की दृढ़ता के लिये ही आवश्यक होते हैं।

ज्ञान से बुद्धि व्यवस्थित होती है और ध्यान से स्वयं को अभिन्न योगानुभव द्वारा परम शान्ति प्राप्त होती है। यदि योगी महापुरुष का ध्यान अपनी ओर खींचना है तो एक मात्र उसका उपाय मन की समग्र शक्ति से बुद्धिपूर्वक ध्यान ही है। इसलिये परमहंस श्री नागा निरंकारी जी महाराज अपने भक्तों को भीतर से ध्यानयोग की प्रेरणा दिया करते थे क्योंकि उनकी अहैतुकी कृपा जिस स्थान से काम करती थी, उस स्थान में आँख, कान, वाणी आदि के द्वारा किसी की पहुँच नहीं हो सकती। वहाँ तो कोई ध्यान के द्वारा ही अपनी महत्वाकांक्षा की पुकार पहुँचा सकता है और तभी महती दया का ऊपर से उत्तर मिलता है।

श्री गुरुदेव के भौतिक शरीर के समीप रहकर जिस कृपा का अनुभव समीपवर्ती शिष्य न कर सके, उस कृपा का अनुभव आज उनके भौतिक शरीर के भूमि पर न रहने पर भी ध्यान योग के द्वारा प्रेमी भक्त कर सकते और कर रहे हैं। जब कभी हम लोगों ने अपनी–अपनी साधना के विषय में स्वामी जी से प्रश्न किया तब वे यही उत्तर देते थे कि ''ध्यान में देखें तो पता चले।'' इनका प्रायः यही निश्चित वाक्य हम सुना करते थे – जीवात्मा से जब कचहरी में भेंट होती है तभी पास या दूर, साधु या चोर का पता चलता है। तब हम लोगों को स्वामी जी के इस वाक्य का अर्थ समझ में न आता था किन्तु अब उसके अर्थ स्पष्ट हो रहे हैं। वास्तव में प्रत्येक जीवात्मा अपने ऊपरी रंग से, बाह्य शब्द–सौन्दर्य अथवा सभ्यता–शिष्टाचार से अपने को जैसा कुछ दिखाता है, प्रायः वह उसका सच्चा रूप नहीं होता। बाह्य और आभ्यंतर रूप में बहुत भेद रहा करता है। जीवात्मा कितना कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, ईर्ष्यालु तथा अभिमानी है, इन बातों को वह बाहर से प्रायः प्रकट नहीं होने देता किन्तु उसके सूक्ष्म शरीर के रंगों से उसके सारे गुण–दोष प्रकट हो जाते हैं। भुवर्लोक में कोई भी जीव अपनी दोषी प्रकृति को नहीं छिपा सकता क्योंकि प्रत्येक गुण और दुर्विकार के भिन्न–भिन्न प्रकार के रंग हुआ करते हैं। जिसका स्वभाव सुन्दर है, सात्विक गुणों से सुसज्जित है उसके सूक्ष्म शरीर का रंग अत्यन्त ही सुन्दर मनोहर एवं स्पष्ट होता है। किन्तु वहीं न्यूनाधिक विकार मिश्रित हैं, जिसमें दोष वर्तमान हैं उसके शरीर में जो रंग दीखते हैं वे मटमैले, भद्दे और असुन्दर होते हैं। सुन्दर या

असुन्दर गुण स्वभाव के अनुरूप ही सूक्ष्म–शरीर की आकृति दीखती है। योगीजन दिव्यदृष्टि से प्रत्येक जीवात्मा के अन्तरंग शरीर को देख लेते हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्विकारों के रंग भिन्न–भिन्न या एक दूसरे के साथ मिश्रित दीखते हैं इसी प्रकार निष्कामभाव, दया, उदारता, प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, भक्ति, ज्ञान आदि सद्गुणों के रंग भी भिन्न–भिन्न या मिश्रित दिखाई पड़ते हैं। प्रेमी पाठकों ने प्रायः चित्रों में देखा होगा कि अवतारों की दिव्य मुखाकृति के चारों ओर अथवा महान् पुरुषों के शरीर के चारों ओर सुनहरे पीले रंग को, नीले हरे, कासनी गुलाबी एवं बैंजनी रंग की किरण–राशि छिटकी हुई सी दीख पड़ती है। ये सब रंग सात्विक दैवी गुणों के हैं। इसके विरुद्ध आसुरी प्रकृति के शरीर में गहरा लाल रंग, भूरा, मटमैला, कालिमा लिये हुए मिश्रित रंग दीखता है जो उसके क्रोध लोभादि दोषों के कारण होता है। दैवी, आसुरी अथवा पशु–प्रकृति वालों की मुखाकृतियाँ भी भिन्न–भिन्न हुआ करती हैं। सूक्ष्म शरीर के सुन्दर रूप तथा रंग से ही उसकी दैवी गुण–सम्पन्नता स्पष्ट हो जाती है और असुन्दर भयानक रूपों से आसुरी अथवा पाशवी प्रकृति का परिचय मिल जाता है।

श्री परमहंस जी जीवात्मा को पहचाने जानने के लिये जो कचेहरी में भेंट होने की बात कहते थे, उसका सम्बन्ध इसी सूक्ष्म शरीर से था जो कि अन्तर्लोकों के दृव्यों का बना होता है। परमहंस

जी दिव्य दृष्टि के द्वारा ध्यान में इसी सूक्ष्म शरीर को देखकर मनुष्य की अन्तर प्रकृति को जान लेते थे।

निरन्तर शुद्ध का स्मरण चिन्तन ध्यान करते रहने से मनुष्य का सूक्ष्म शरीर पवित्र हो जाता है, उसका रूप बहुत ही सुन्दर हो जाता है। मनुष्य जैसा चिन्तन या ध्यान करता है वैसा ही बनता जाता है।

प्रबल आध्यात्मिक सामर्थ्य रखने वाले प्रशान्त–चित्त स्थिर बुद्धि वाले सन्त का ध्यान करने से साधक में अद्भुत शक्ति आने लगती है। जिस प्रकार किसी शक्ति–सम्पन्न पदार्थ से जब दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध होता है तब उसमें भी वही शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार शक्ति–सम्पन्न महात्मा का ध्यान करने से अर्थात् उनके साथ मानसिक योग स्थापित होने से उनकी शक्ति ध्याता को मिलती रहती है।

चंचल मन से ध्यान नहीं सध सकता। मन को रोकने के लिये किसी प्रकार की विशेषता का मनन आवश्यक है। सन्त का ध्यान करने के लिये उनकी दया क्षमा सहानुभूति आदि सद्गुणों का चिन्तन करना आवश्यक है। संकल्पों की अधिकता से शक्ति बिखरती रहती है और संकल्पों के रोकने से शक्ति संचित होती है। इन ध्यान योग की सिद्धि के लिये ही कोई भगवान् के दिव्य साकार रूप का चिन्तन करते हैं, कोई मानसिक पूजा करते हैं, कोई शरीर के भीतर आज्ञाचक्र या हृदयचक्र में सुरति स्थिर करते हैं, कोई नादानुसन्धान के द्वारा

चित्त को लय करते हैं। जिसके लिये जो उपाय सुगम हो, वही करना चाहिये।

सन्त के साथ तो उस समय भी ध्यान द्वारा सम्पर्क हो जाता है जब किसी बहुत बड़े दुःख के दूर हो जाने की सन्त से आशा होती है या फिर प्रगाढ़ प्रीति होने पर भी सन्त से ध्यान–योग दृढ़ होता है। ध्यान योग की सिद्धि तभी समझना चाहिये जब बिना प्रयत्न के ध्यान होता रहे और किसी बाह्य कारण से भले ही नहीं–इस प्रकार के ध्यान योग से सन्त की कृपा शक्ति को साधक निरन्तर प्राप्त करता रहता है।

सन्त का त्याग

संसार में यदि किसी को सर्वोपरि लाभ अथवा सर्वोत्कृष्ट सिद्धि या परम शान्ति प्राप्त हुई है तो त्याग के द्वारा हुई है। मानव का यथार्थ ज्ञान त्याग के ही द्वारा नापा जा सकता है। परमात्मा के अतिरिक्त जो लौकिक या पारलौकिक इच्छाओं का त्याग करता है वही सन्त पद को प्राप्त होता है। संसार में धन की इच्छा, रूप, रसादि भोगों की इच्छा, उच्च पदाधिकार अथवा मान की इच्छा ही संसार से बांधती है और इन सबके त्याग से ही संसार से मुक्ति मिलती है।

श्री स्वामी जी महाराज के जीवन में जो उत्कृष्ट तप के साथ उच्चतम त्याग का दर्शन मिलता है वह त्याग इतने में ही सीमित नहीं है कि स्वामी जी गृह आदि सम्पत्ति को छोड़ वनस्थ होकर रहे। स्वामी जी ने समस्त कामनाओं का भी त्याग किया था। कामनारहित त्यागी की सेवा करने के लिये संसार की बड़ी से बड़ी विभूतियाँ पीछे–पीछे चलती हैं और किसी प्रकार की इच्छा का स्फुरण होते ही उसकी पूर्ति करने के लिये अनायास ही तत्पर रहती हैं परन्तु श्री परमहंस जी महाराज के मन में कोई व्यक्तिगत वासना एवं भोग कामना का स्थान न रह गया था। इनके जीवन में दैवी शक्तियों का स्वराज्य स्थापित था। इसीलिए ये सदैव शुद्ध प्रज्ञा के द्वारा आत्मा परमात्मा में परम तृप्त थे। इसी कारण इनके हृदय में कोई इच्छा न

थी, किसी वस्तु के प्रति लोभ, मोह तथा ममता न थी। तब क्रोध, कठोरता, कटुता, द्वेष, छल आदि दोषों को स्थान ही कहाँ मिल सकता था। संसार के विद्वान ज्ञानी पुरुष उसे ही परम श्रेष्ठ मानते आए हैं जिसने संसार की आशा, तृष्णा एवं इच्छा मात्र का त्याग किया है। त्याग के साथ ही तेज है, सत्कार है, सुख है, शान्ति है। आनन्द और मोक्ष भी त्याग से ही मिलता है।

परमहंस जी ने सांसारिक सुखों तथा अपने सुख के लिये दूसरों की ओर से होने वाली अपनी सेवाओं का सदैव त्याग किया। ये स्वयं मन–वाणी से ही नहीं वरन् अपने शरीर से भी सेवा पात्र मिल जाने पर सेवा किया करते थे।

श्री स्वामी जी ने उस मोह–माया का एकान्त रूप से त्याग कर दिया था, जिसकी परिधि में विषय–विमोहित असंख्य प्राणी सुख से तृप्त होने की आशा से अगणित दुःख भोग रहे हैं।

श्री परमहंस जी ने उस वासना का भी त्याग कर दिया था जो सांसारिक वस्तुओं तथा विविध विषय–भोगों की क्रियाओं के त्याग कर देने पर भी उसी प्रकार मन में बसी रहती है जिस प्रकार खटाई निकाल देने पर भी खटाई के पात्र में खटाई की बास (गन्ध) बसी रहती है।

तपस्वी पुरुष भोगों का त्याग कर देने पर भी जब तक ज्ञानपूर्वक वासना का त्याग नहीं कर पाते तब तक हजारों वर्ष उग्र

तप करने पर भी उसी प्रकार भोग सुखों में पतित हो सकते हैं जिस प्रकार महर्षि विश्वामित्र हजारों वर्ष तप करते हुए भी वासना शेष रहने के कारण संयम–सिद्धि से विचलित हो गये थे। वही फिर कालान्तर में पूर्ण त्यागी होने पर ही ब्रह्मर्षि–पद प्राप्त कर सके।

त्याग वह दिव्य पथ है जो तृष्णा के तल से आरम्भ होता है और परम शान्ति–धाम सत्य में जाकर समाप्त होता है।

वास्तविक त्याग किसे कहते हैं, यह तो विवेकी पुरुष ही जानते हैं। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जो घर छोड़कर भीख मांगने वालों को, जंगल में कुटी बना लेने वालों को, सिले कपड़े पहिनना छोड़ देने वालों को अथवा किसी विशेष प्रकार के साधु वेश धारण कर लेने वालों को ही त्यागी समझ लेते हैं। परन्तु वास्तविक त्याग इन ऊपरी वेषभूषा मात्र से सिद्ध नहीं होता, सच्चा त्याग तो भीतर से होता है।

वास्तव में सच्चा त्यागी वही है जो संसार की किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, जो किसी भी शरीर से यहाँ तक कि अपने शरीर से भी ममता नहीं रखता। आदर्श त्यागी वही है जो शरीर की सभी अवस्थाओं तथा मन की सभी दशाओं को अपने ऊपर न ओढ़कर उन सबसे ऊपर उठे रहकर उन्हें दूर से देखता रहता है। बन्धन–मुक्त त्यागी वही है जो सुख–दुःखादि द्वन्दात्मक परिस्थितियों के वशवर्ती न रहकर उन्हें अपने स्वाधीन बना लेता है। संसार में पूर्ण त्यागी स्वतंत्र है, स्वाधीन है। रागी तो सदा परतन्त्र पराधीन होता है।

दूसरों से मिलने वाले मान का त्याग न कर सकने के कारण ही प्रत्येक मनुष्य कितना चिन्तित रहता है, कितनी आवश्यकतायें बढ़ाता जाता है, न जाने कितनी वस्तुओं का संग्रह करता है।

विशेष प्रकार के वस्त्रों की चिन्ता, भोजन की चिन्ता, छड़ी, छाता, जूता की चिन्ता, कमरा, कुर्सी, मेज, बिछौना की चिन्ता, विशेष प्रकार की सजावट की चिन्ता, श्रृंगार की चिन्ता, दूसरों के द्वारा मान प्राप्त करने के ही कारण तो करनी पड़ती है। दूसरों के द्वारा सुख और सुखद वस्तु की प्राप्ति के लिये तो न जाने क्या–क्या करना पड़ता है, क्या–क्या बनना पड़ता है।?

हमारे सन्त जो सदा निश्चिन्त निर्भय स्वाधीन रहते थे। इन्हें तो लँगोटी पहनने की भी चिन्ता न थी, इनके मन में कभी यह प्रश्न क्यों उठेगा कि अमुक व्यक्ति आता है तो ऐसा वस्त्र पहिन लेना चाहिये, यह श्रृंगार कर लेना चाहिये, अमुक स्थान साफ–सुथरा कर लेना चाहिये–इत्यादि। ये तो सदा निश्चिन्त शान्त ही रहते थे। इसीलिये कि यह पूर्ण त्यागी थे।

पूर्ण त्यागी वही है, जो सुखोपभोग की तृष्णा का त्याग करता है एवं सुखद वस्तुओं के संग्रह का भी त्याग करता है। इसी प्रकार लोभ, मोह, अभिमान का पूर्ण त्याग कर अन्तस्थल में जहाँ विषयों की बास आती रहती है उस वासना के पात्र का ही त्याग करते हुए अन्त में सीमित अहंकार का भी त्याग कर देता है।

श्री सन्त सद्‌गुरु नागा निरंकारी जी में इसी प्रकार का पूर्ण त्याग देखा गया। बाल विरागी परम त्यागी होने के कारण ही इनमें शान्ति तो मूर्तिमान सी थी, जिसका अनुभव सभी समीपस्थ व्यक्तियों को होता रहता था। जब तक तप के साथ पूर्ण त्याग नहीं होता तब तक उसके द्वारा प्राप्त शक्ति का प्रायः अभिमान पूर्वक भोग ही होता है। यथार्थदर्शी पुरुष त्यागहीन तप को आत्मपीड़न की निरर्थक क्रिया के अतिरिक्त कुछ विशेष महत्व नहीं देते। जो तपस्वी होने के साथ त्यागी भी है वही तप के द्वारा प्राप्त शक्ति का भोगी न होकर इस शक्ति से दूसरों को हितप्रद सुख पहुँचाते हुए तथा सच्ची सेवा करते हुए स्वयं परम शान्ति का योगी होता है।

श्री गुरुदेव जी महाराज पूर्ण त्यागी एवं विरक्त होने के कारण ही अपने तप की शक्ति से सदा शरणागत दीन दुखियों एवं पीड़ितों की सेवा–सहायता करते रहे। संसार में दूसरों की सेवा सहायता वही करता है जो दूसरों से अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता और वही मनुष्य किसी से कुछ नहीं चाहता जो कि निष्काम है। यह सच्ची निष्कामता ही त्यागी को पूर्ण तृप्ति प्रदान करती है।

सन्त सद्‌गुरु देव की संसार–सेवा बाह्य ऐश्वर्य पर निर्भर न होकर उनकी आन्तरिक संयम की सफलता एवं पूर्ण त्याग द्वारा प्राप्त दिव्य शक्ति से हुआ करती है। श्री परमहंस जी के उच्चतम त्याग को देखने से सहज ही यह पता चल जाता है कि इनमें कितना गम्भीर ज्ञान था क्योंकि पूर्ण त्याग ही सच्चे ज्ञान की कसौटी है। ज्ञान का

अर्थ केवल वेद शास्त्रों को कंठस्थ कर लेना मात्र नहीं है वरन् उनमें बताई गई भक्तिप्रद एवं मुक्तिप्रद नीति–रीति और परहितकारी प्रीति को अपने समग्र जीवन में आचरित करना है।

वास्तव में अपने को, विश्व को और विश्वपति को जानने का नाम ही ज्ञान है। जो अपने स्वरूप को जान लेगा, वह देहादिक पराधीन वस्तुओं के प्रति ममता–मोह नहीं रख सकता। जो विश्व को जान लेगा, वह विश्व की अनित्य सुखद वस्तुओं का रागी नहीं रह सकता। इसी प्रकार विश्वपति को जान लेने पर सर्वभावेन उनका अनुरागी हुए बिना भी कोई नहीं रह सकता। जगत से दूर हटकर अर्थात् निरासक्त त्यागी होने पर ही जगत् के वास्तविक रूप का ज्ञान होता है और जगदाधार सत्य का योगानुभव होने अर्थात् एक मात्र सत्य के ही प्रेमी होने पर सत्य का तत्वतः परम ज्ञान होता है।

श्री स्वामी जी महाराज पूर्ण त्यागी होने के कारण ही यथार्थ ज्ञानी हैं और ज्ञानी होने के कारण ही पूर्ण प्रेमी हैं।

अनेक नाम–रूपमय जगत की अनेकता के अनेक गुण–दोषमय त्रिगुणात्मक प्रभाव को प्रपंच के एक अन्तरूपी एकान्त की आवश्यकता होती है। हमारे श्री स्वामी जी महाराज ऐसे एकांत में रहते हुये नाम–रूपमय की अनेकता में अपने को अपना कुछ भी न मानकर एक को ही सर्वस्व जानते थे, अपने में से अनेक को निकालकर एक को

ही देख रहे थे एवं अनेक से असंग होकर एक परम तत्व के ही योगी हो चुके थे तब फिर इन्हें एकान्त स्थान की आवश्यकता ही क्या थी?

किसी भी साधन का उपयोग साध्य की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है। साध्य प्राप्त कर चुकने पर साधन को सुरक्षित रूप में रख दिया जाता है और सिद्धपद में विश्राम किया जाता है। श्री परमहंस जी महाराज का पूर्वार्ध जीवन साधन समर में ही व्यतीत हुआ। अब उत्तरार्ध जीवन सिद्धपद में प्रतिष्ठित होकर केवल विश्राम के लिये था, ऐसी दशा में इन्हें तप की क्या आवश्यकता थी?

शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राणादि किसी भी क्षेत्र की निर्बलता में शक्ति संचय करने के लिये ही तो तप किया जाता है क्योंकि शक्ति प्रवाह के ऊर्ध्वोन्मुख करने की संयम–विधि का नाम ही तप है एवं अटूट धैर्य सुदृढ़ सहिष्णुता के लिये बाहर–भीतर शक्ति शालीनता ही तप की सिद्धि है। यह सिद्धि स्वामी जी पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुके थे। अब इन्हें त्याग करना भी क्या शेष रह गया था? संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति को तथा प्रारब्धजनित शरीर की किसी भी अवस्था को अपना न मानना ही तो त्याग है अथवा सभी प्रकार की वासनाओं, इच्छाओं एवं संकल्पों को अपने में से निकाल देने का नाम ही तो त्याग है। नित्य निर्भयता तथा अबाधित शान्ति ही तो त्याग का फल है जिसे स्वामी जी प्राप्त कर चुके थे।

अब इन्हें धारणाभ्यास की भी क्या आवश्यकता थी? चंचल चित्त को शरीर के किसी एक केन्द्र विशेष में हठात् नियोजित करना ही तो धारणा है और योगसिद्धि के लिये अविचलित भाव से अपने भीतर स्थिर होना ही धारणा की सिद्धि है जिसे स्वामी जी अनायास ही सिद्ध कर चुके थे।

इस परिस्थिति में इन्हें ध्यानावस्थित रहने की क्यों चेष्टा करनी पड़ती? संसार के सुखद या दुःखद पदार्थों का ध्यान मिलने के लिये ही सत्य परमात्मतत्व में अथवा आत्मा में चित्त का तल्लीन रखना ही तो ध्यान है और चित्त की निर्विषयावस्था अथवा वृत्ति की ध्येयाकार दृढ़ता ही ध्यान की पराकाष्ठा है जो कि स्वामी जी की सहज स्वाभाविक स्थिति बन गई थी, जिससे ये कभी पृथक होते ही न थे।

श्री नागा जी परमहंस पद में प्रतिष्ठित होकर उसी परमहंस दृष्टि से विश्वमय विश्वाधार को देखते थे और परमहंस वृत्ति से विश्वाधार सत्य के अविभक्त रहकर विश्व में विचरते थे। श्री स्वामी जी महाराज नित्य सहज समाधिस्थ रहकर प्रशान्त आनन्द का आस्वादन करते थे। इनकी वह सहज समाधि ऐसी थी, जिसमें आँखे बन्द नहीं करनी पड़ती थी। जिसमें इन्द्रिय–दमन तथा मनोनिरोध का प्रश्न ही शेष न रह गया था। वहाँ तो बुद्धि भी मौन हो चुकी थी। ये तो मन–बुद्धि को यंत्रों की भाँति अलग संसार की सीमा में एकान्त छोड़ अकेले होकर ऐसे स्थान में रहते थे जहाँ का पता लगाने में बुद्धि भी असमर्थ थी। तब भला किस आधार पर वर्णन किया जाय?

जिनके उत्कृष्ट तपोमय जीवन में भूमि ही शैय्या थी, विभूति राशि (राख का ढेर) ही तकिया तथा बिछौना था, वृक्षों की छाया ही शीतल गृह था, विभूति ही शरीर रक्षक वस्त्र था तथा सघन वन प्रांतर एवं कटीली झाड़ियाँ ही जिनकी मनोविनोद प्रिय सहेलियाँ थी और निर्जन स्थान ही जिनके मित्र एवं संगी थे, उन्हीं परम योगिराज श्री परमहंस जी महाराज के उत्तरार्ध जीवनी की अद्भुत झांकी अब प्रेमी पाठकों को दिखाई जा रही है।

श्री परमहंस जी महाराज को जब तप से शक्ति–सम्पन्नता, त्याग से नित्य शान्ति और तत्वज्ञान से जीवनमुक्ति प्राप्त हो गई तब इस अवस्था में यदि कोई इन्हें विविध श्रृंगारिक वस्तुओं से सुशोभित मनोहर महलों में बुलाकर बिठा देता तब ये वहीं रम जाते थे। उन महलों की वह विलास–सामग्री इन्हें तिल भर भी बाधक अथवा मोहक न प्रतीत होती थी। अब इन्हें सुन्दर कोमल गद्दों तकियों से समलंकृत पलंग पर बैठना भी अस्वीकार न था क्योंकि भोगों में सुख की वासना सदा के लिये विलीन हो चुकी थी। इस अवस्था में जो जहाँ चाहता, इन्हें ले जाता था और ये चले जाते थे। घर और वन का भेद इनमें न रहा गया था। नर नारी शरीरों के प्रति लिंग दृष्टि से देखना तो ये न जाने कब के भूल चुके थे। युवतियों के शरीर स्पर्श का पुरुष पर कुछ वासनात्मक प्रभाव पड़ सकता है, परन्तु परमहंस जी इसे तो जैसे जानते ही न थे। इनकी नग्न निर्दोष काया को चाहे

कोई बालक धोवे या परमरूप लावण्यमयी कोई सुन्दरी धोवे तो भी इनके मन को माया कभी छू न पाती थी।

श्री परमहंस जी महाराज का अपने भक्तों के प्रति यही उपदेश है कि दया–धर्म का आश्रय लेकर भजन किये जाओ, हजारों जन्मों के कर्मभोग जीव को घेरे हुए हैं। अगणित पुण्य–पाप हैं। वे आत्मज्ञान एवं भगवद्भक्ति से ही क्षीण हो सकेंगे। दो–चार जन्म इसके लिये धारण करना पड़े तो सस्ता समझो। अच्छे–अच्छे सिद्ध पुरुषों को भी संसार के अनेक ऋणों को अदा करने के लिये किसी को सात, किसी को तीन जन्म तक धारण करने पड़ते हैं।

परमहंस श्री नागा जी के इस जीवन का प्रथम भाग तो प्रायः परिभ्रमण में ही बीता, हम लोग अपरिचित ही हैं। फिर भी कुछ चरित्र तो परमहंस जी द्वारा विदित हो ही चुका है, जिसका वर्णन किया गया है। उनके जीवन का भव्य भाग उत्कृष्ट तपस्या में व्यतीत हुआ, जिसका विशेष सम्बन्ध उत्तर प्रदेश और अधिकतर असोथर राज्य से ही है। इसी प्रकार उनके जीवन का अन्तिम भाग सहजावस्था में ही रहते हुए, साथ ही शक्ति योग से दूसरों की सेवा करते हुए व्यतीत हुआ। इस भाग का विशेष सम्बन्ध पाली ग्राम से है। यहीं पर योगीराज ने अपने जीवन की ऐहिक यात्रा समाप्त की।

सन्त की जितेन्द्रियता

वास्तव में इन्द्रियों को जीते बिना योगमार्ग में प्रगति हो ही नहीं सकती क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा ही शक्ति की गति अधोमुखी रहती है। विविध विषय–पथ से प्रवाहित शक्ति को रोकने के लिए उसे ऊर्ध्व दिशा में परिवर्तित करने के लिये बाँध लगाना होता है। जितनी ही धारा की गति तीव्र होगी, उतनी ही कठिनता से वह रोकी जा सकेगी।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सुख भावना से जितनी ही अधिक आसक्ति होती है उतना ही अधिक शक्ति का ह्रास होता है। इस शक्ति–ह्रास के अनुसार ही प्राणी अधिकता के साथ विषयजनित सुखों में आसक्त होकर दीन तथा दरिद्र होता है। इसीलिये कहा है– ''कृपणायोऽजितेन्द्रियः।'' 'जो इन्द्रियों को नहीं जीत सकता वह कृपण है।'

श्री स्वामी जी इस जन्म में आरम्भ से ही बाल विरागी रहकर विचरे। ये भोग सुखों के लिए विषयों के क्षेत्र में उतरे ही नहीं। इन्हें विषय–रसास्वादन का अवसर ही नहीं मिला। इनका तपोमय जीवन शरीर की युवावस्था के अन्त तक अधिकाधिक ऐसी साधना में व्यतीत हुआ, जिसमें ब्रह्मात्मैक्य ध्यान के अतिरिक्त मन के जाने के लिये दूसरी ओर कोई मार्ग ही न रह गया था। ये तन, मन की इच्छाओं से

सदा ऊपर ही उठे रहते थे। इन्द्रियों को वश में रखने का तो इनके सन्मुख कभी प्रश्न ही न उठा होगा क्योंकि इन्द्रिय–जय तो वहाँ किया जाता है जहाँ इन्द्रियाँ बलवती होकर जीवात्मा को बलात्कार से भोग जनित सुखों के पथ में खींचती रहती है। स्वामी जी के जीवन में कभी ऐसी स्थिति आई होगी, इसकी कहीं शंका ही नहीं होती।

जितेन्द्रिय हुए बिना, सदाचारी हुए बिना सत्य की सहज रूप में अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती। सन्त सद्गुरु शिवत्व (सदाचार) की साक्षात मूर्ति हैं।

जीव को सांसारिक वस्तुओं के दासत्व में बाँधने वाला एक मात्र प्रबल शत्रु काम ही है। कामनापूर्ति के दुःखद परिणाम को न जानने वाले मूढ़ जीव ही काम के वशीभूत होते हों, ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो विनाशकारी भयानक परिणाम को जानने वाले मनुष्य भी काम से पराभूत होते रहते हैं। यह काम ही तो मानव को लोभी, मोही, ईर्ष्यालु और क्रोधी बनाता रहता है। कामनापूर्ति के सुख से तृप्त होने के लिये ही मनुष्य आजीवन बड़े से बड़े प्रपंच भार को ढोता हुआ व्यापार–विस्तार में अत्यधिक व्यस्त रहता है।

काम–वासना पर विजय प्राप्त करना, ऊर्ध्वरेता होना साधारण तपस्वी विद्वान व्रती के वश की बात नहीं है। किसी सर्वोपरि वीर महापुरुष में ही ऐसी योग्यता देखी जाती है जो कामजित हो। परमार्थी साधक कहीं भी कामवासना के वशीभूत न हो इसीलिये इससे

बचाव के लिये नाना प्रकार के नियम शास्त्रों में बताये गये हैं। ''साधक को सजीव स्त्री के दर्शन की बात तो दूर रही, काठ की नारी–मूर्ति का भी दर्शन न करना चाहिए। सदा अपने नेत्रों की दृष्टि नीचे की ओर ही रखनी चाहिए। मन अत्यंत नीच प्रकृति का है। वह भोग–सुखों की कामना से प्रायः कलुषित है अतएव अपनी माता, पुत्री, भगिनी आदि के साथ भी अकेले कभी एकान्त में हास्य संभाषण आदि न करना चाहिए।'' ऐसी श्रुति की आज्ञा है परन्तु जो सिद्ध पुरुष हैं उनकी नीति रीति विलक्षण है। जिस प्रकार एक पाँच वर्ष का बालक कमनीय कलेवरा कामिनी के वक्षस्थल पर खेलते हुए तथा उसके सौन्दर्य का मनन न करते हुए भोगबुद्धि से शून्य होने के कारण ही निर्विकार भाव से निःसंकोच निर्भय तथा निष्काम रहता है, उसे कहीं भी नारी में सौन्दर्य की मोहकता नहीं दीखती इसी प्रकार स्वामी जी महाराज ऐसे बालयती थे कि सदा नग्न रूप में ही जैसे वे निर्जन वनों में पशुओं, वृक्षों और काष्टकाकीर्ण झाड़ियों के बीच विचरते रहे वैसे वे राजमहलों, धनपतियों के सुरम्य भवनों तथा बड़े–बड़े नगरों की गलियों में भी हजारों सुन्दरियों के परम श्रद्धास्पद सेव्य बनकर निर्विकार बुद्धि एवं पवित्र चित्त से विचरते रहे। सुन्दर युवती में मन को मोहने वाली कोई वस्तु होती है–इस भेद को जैसे वे जानते ही न हों ऐसी चेष्टा से ही श्री स्वामी जी नारी–समाज में बैठने उठने हँसने–खेलने में निःसंकोच रहते थे इनके मन में कभी स्वप्न में भी दुर्वासना–विकार की उत्पत्ति होती थी, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

श्री परमहंस जी सदा नग्न रूप में बालकों की भाँति सरल स्वभाव से बालक–बालिकाओं एवं नारियों के बीच हँसते–खेलते बैठते और उनके साथ ही प्रायः स्नानादि करते थे। आप बालकों की भाँति सारी क्रियाओं को अपने शरीर में होते देखते थे। यहाँ हमें यह भी कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वामी जी मन से पूर्ण निर्विकार होते हुए भी विकारी जीवों को भली भाँति जानते एवं परखते थे। अवश्य ही इनका मन नारी रूपी अग्नि के सामने घृतवत् न रह गया था जो कि किंचित् ताप के लगते ही पिघल जाता है। इसके विपरीत यह तो शीतल हिम के समान थे जो अपनी समीपता से कामी के काम ताप को भी शीतल बना दे। इसीलिये इनके समीप विकारी हृदय भी निर्विकारी हो जाता था। जहाँ ये अपनी स्वभाव–सुलभ सरलता के कारण बालकवत् लोक–मर्यादा के बाहर ही विचरते दीखते थे, वहीं कहीं–कहीं मर्यादा की इतनी सूक्ष्म विधि का पालन भी करते थे कि हम समीपवर्ती लोग भी देखकर चकित रह जाते थे।

एक बार की बात मुझे याद है–वर्षा के दिन थे। एक श्रद्धालु भक्त देवी ने परोपकारार्थ कूप बनवाया था, स्वामी जी उसी कुएँ पर बैठे थे। कुएँ के चारों ओर बहुत चौड़ा फर्श बना हुआ था। फर्श के नीचे ऊबड़–खाबड़, कीचड़ तथा घास से भरी हुई भूमि थी। वर्षा की अँधेरी रात में जब स्वामी जी लघुशंका से निवृत्त होने के लिये उठे तो मैंने यह आग्रह किया कि उसी फर्श के किनारे बैठकर लघुशंका से निवृत्त हो लें परन्तु स्वामी जी मेरी बात सुनते ही बोल उठे कि ''नहीं,

यह लड़की का कुआँ है, इसके ऊपर बैठकर ऐसी क्रिया नहीं करनी चाहिए।'' इस प्रकार स्वामी जी की विचार–मर्यादा देखकर मैं तो आश्चर्य चकित हो मौन रह गया। यदि कोई स्वामी जी के सामने नारियों की निंदा करता तो इन्हें उस निन्दक की बुद्धि पर आश्चर्य होता था। इन्हें तो नारी ईश्वरीय शक्ति का साकार रूप दीखती थी। स्वामी जी नारी की निंदा क्यों करते, नारी से क्यों डरते? क्यों घृणा और ग्लानि के भाव से नारी की उपेक्षा करते? इनके चित्त में विकारों की कामवासना तो थी ही नहीं निर्विकार चित्त होने के कारण इन्हें पतित होने का भय तो था ही नहीं। इसीलिये इन्हें नारी दोषों की खान न दीखती थी। वास्तव में जब किसी के मन में पहिले से वासना छिपी रहती है तब वही सजातीय वस्तु के संयोग से जागृत हो जाती है और अपनी पूर्ति के लिये सर्वांगों को आकर्षित कर लेती है।

मानव के भोग–सुखों में पतित होने का यही क्रम है। प्रायः लोग अपनी दुर्बलता से ही पतित होते हैं और नारी को दोषी तथा पतन का कारण ठहराते हैं।

मानव शरीर के स्थूल ढाँचे के साथ ही एक सूक्ष्म शरीर है। उस सूक्ष्म शरीर में भिन्न–भिन्न गुण स्वभाव के कुछ स्तर हैं, जिनके द्वारा सांसारिक कामनाओं, वासनाओं की ही पूर्ति होती रहती है। इसके साथ ही कुछ ऐसे स्तर भी हैं जिनके जाग्रत होने अर्थात् क्रियाशील होने पर पारमार्थिक सद्भावों का चरितार्थ होना अति सुगम होता है। महान् पुरुषों में जब उच्च क्षेत्र क्रियाशील होते हैं तब निम्न क्षेत्रों द्वारा

प्रवाहित शक्ति उच्च क्षेत्रों की ओर उन्मुख हो जाती है इसीलिये अत्यधिक दया, करुणा, सहानुभूति, धैर्य, सहिष्णुता, क्षमा, गंभीरता, विवेक और प्रेम आदि सभी सद्‌गुण बढ़ जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि का त्याग अति कठिन है किन्तु जिसमें उच्च भावनाएँ क्रियात्मक भलाई के रूप में चरितार्थ होती रहती हैं उसके लिये कामादिक विकारों को पूर्ण करने वाली शक्ति ही शुद्ध ज्ञान तथा निष्काम प्रेम एवं परहित भाव में बदल जाती है।

शक्ति का अधोमुखी प्रवाह ही काम है। इसके विपरीत शक्ति की ऊर्ध्वमुखी गति ही प्रेम है। कामी संसार में आसक्त होता है और प्रेमी सत्य परमात्मा में अनुरक्त होता है। सुखों का रागी ही कामी होता है और सुख–शक्ति का त्यागी ही प्रेमी होता है। सुख–कामना की पूर्ति के लिये सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों का आश्रय लेना होता है किन्तु सुख–कामना से विरक्त होने पर आनन्द की प्राप्ति के लिये अपने में ही सत्यानन्द का अनुभव होता है, जो कामाजित हैं। उन्हीं को सत्यानन्द की अनुभूति का अधिकार है।

प्रत्येक विषय के प्रति सुख–बुद्धि का त्याग करने वाला ही पूर्ण जितेन्द्रिय होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों विषयों में काम व्याप्त है। इन पाँचों विषयों की कामना का त्याग करना ही पूर्णरूपेण कामाजित होना है। श्री स्वामीजी महाराज में किसी भी विषय की कामना न थी। सुन्दर से सुन्दर शरीर जिसकी कमनीय कान्ति का वर्णन कविगण अत्यन्त रोचक शब्दों में करते रहते हैं,

जिसकी रूप आभा पर कामी जन पतिंगे की भाँति अपने जीवन को जलाते रहते हैं, ऐसा मनोहर रूप भी श्री परमहंस जी की दृष्टि में हाड़, मांस रुधिर तथा मल–मूत्र के भाण्ड के अतिरिक्त और कुछ न था। कोकिल कण्ठवत् मनोहर स्वर–लहरी में मांस–यंत्र के भीतर आकाश में वायु की गति ध्वनि के अतिरिक्त उनके लिये कोई मोहकता प्रतीत न होती थी। जिन खाद्य पदार्थों का रूप मल–मूत्र में परिणत हो जाता है, उनके ही संयोग से रसना में स्वाद की प्रतीति अथवा घ्राण में गन्ध की प्रतीति, इन्द्रियों की क्षणिक संयोगज वेदना के अतिरिक्त और क्या हो सकता था।

किसी भी इन्द्रिय के विषय में रसास्वाद लेना ही काम को पुष्ट करना है। संसार के किसी भी सुन्दर रूप में, सुन्दर मधुर शब्द में, स्वादिष्ट भोजन में, किसी भी स्पर्श में तथा सुगन्ध में मोहित न होना, उनकी इच्छा न करना, प्राप्त होने पर भी सुख–भोग की दृष्टि से उसे स्वीकार न करना ही सच्ची जितेन्द्रियता है। ये सच्चे जितेन्द्रिय होने के कारण ही दैवी शक्तियों से सम्पन्न योगी हैं। इनकी दैवी सम्पत्ति को कोई भोगी रहकर नहीं प्राप्त कर सकता। ये जिस गुरुतम पद को प्राप्त हैं, उस पद की सेवा करने के लिये अथवा इनके समीप पहुँच सकने के लिये इनके प्रेमी को जितेन्द्रिय होना ही पड़ेगा। जब तक हम लोग अजितेन्द्रिय हैं तब तक दुर्बल हैं एवं इस पतित दशा में रहकर हम इन्हें देख तो सकते हैं परन्तु इन तक पहुँच नहीं सकते। हम सब लोग इनकी उस कृपा का अनुभव करें और उस

विवेक तथा दृढ़ संकल्प एवं विजयप्रद शक्ति के लिये प्रार्थना करें, जिसके द्वारा हम सब भी पूर्ण जितेन्द्रिय हो सकें।

स्वामी जी ने स्वयं महान् दुष्कर तपश्चरण करके मानव जाति को शक्तिशाली बनने के लिये जितेन्द्रिय होने की शिक्षा दी है। इसे प्रत्येक कल्याणार्थी शिष्य को ग्रहण करना ही होगा। इन्द्रिय–दमन, मन का निरोध, भोगों का त्याग करना ही सद्गुरु की शिक्षा को सार्थक करना है।

सन्त का धैर्य

सन्त महापुरुष में ही धीरता का परम रहस्य दर्शित होता है। हमारे परमहंस जी धैर्य की महत्ता को भली प्रकार जानते थे तभी तो ये धैर्य को अपने जीवन में अभेद्य कवच की भाँति धारण किये हुए थे। किसी भी कठिन से कठिन परिस्थिति में कभी न टूटने वाले धैर्य के बल पर ही ये सन्त मोक्ष–पद को प्राप्त कर सके।

सन्त के कृत्यों का अर्थ तो सन्त ही जान सकते हैं। जिन दिनों परमहंस जी ने अपने शरीर–निर्वाह के लिये भी प्रत्येक आवश्यक संकल्प का अथवा इच्छापूर्ति की चेष्टा का त्याग व्रत ले रखा था तब वे स्वयं न खाते थे, न पीते थे, न उठते थे, न बैठते थे उस समय इनके शरीर की रक्षा कोई अज्ञात शक्ति ही बालकों के रूप में करती रहती थी। उस समय बालकों के ही बुलाये बोलते थे, उनके ही उठाने से उठते और बिठाने से बैठते थे, उन्हीं के साथ खिलाने–पिलाने पर ही खाते–पीते थे। बालक चाहे पानी में गिरा दें, चाहे आग में ढकेल दें, चाहे तप्त बालू में सुला दें या बर्फ में बैठा दें, वे जो कुछ भी करें उसे अस्वीकार नहीं करते थे। फलस्वरूप अनेक अवसर ऐसे भी आये जब प्राणों की बाजी लगानी पड़ी, बालकों के विनोद ने संकट के मुख में झोंक दिया, वहीं पर परमात्मा की अदृश्य शक्ति की प्रेरणा ने मृत्यु के मुख से निकाल भी लिया। इस प्रकार की अवस्था में पग–पग में जिन कष्टों का सामना करना पड़ा उसके लिये

परमहंस जी में एक मात्र यह धैर्य ही ऐसा बल था, जिसके कारण अपने कठिनतम व्रत में सदा अटल रह सके।

धैर्य के बल पर ही बड़े–बड़े बीहड़ वनों में गिरि–गुफाओं में महीनों ही नहीं वर्षों निवास किया, उसी प्रकार बड़ी–बड़ी बस्तियों में नगरों के कोलाहल में सैकड़ों हजारों के मध्य में भी धैर्य बल पर ही एकरस शान्त रह सके। हमें कुछ दिन सन्त सद्गुरु के समीप रहने का सौभाग्य सुलभ हुआ। मैं इन दिनों के दृश्य को भूल नहीं सकता जब कि हजारों दर्शनार्थी लोगों की भीड़ परमहंस जी को घेरे रहती थी। साथ ही सबको अपनी–अपनी कहने की खुली छूट थी। जब कि हम लोग उस परिस्थिति से अधीर होकर व्याकुल हो उठते थे तब ये महात्मा सदा अटूट धैर्य के बल पर ही कितने ही घण्टे एक आसन में बैठे हुए सबकी सुनते और तदनुसार सन्तोष प्रदान करते थे। इनके समीप सभी प्रकार का सुख देखकर अनेक व्यक्ति अपने को शिष्य बनाकर इन्हें घेरे रहते और कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो इन्हें तंग करते थे, उन सबके प्रति भी हमारे परमहंस जी का धीरज अखण्डित ही रहता था, इनके सामने बड़ी–बड़ी भयंकर घटनायें आई, शरीर पर बड़ी दारुण वेदनायें प्रकट हुई और महीनों तक अपना डेरा जमाया फिर भी स्वामी जी की धीरता को डिगाने की शक्ति कहीं भी न दिखाई दी।

अनन्त धैर्य–धन सन्त सद्‌गुरु की दैवी सम्पत्ति है। इस धैर्य के कारण ही सन्त–सद्‌गुरु के जीवन में बहुत ही गम्भीर गति होती है जिसका अर्थ सर्वसाधारण मानव नहीं समझ सकता।

किसी भी महत्वाकांक्षा अथवा अभीष्ट ध्येय की पूर्ति के लिये अधिकाधिक तप और त्याग की आवश्यकता होती है। तप तथा त्याग के लिये सर्वप्रथम उत्साह से गति आरम्भ होती है, कुछ दूर चलने पर मार्ग की कठिनाइयों से जहाँ उत्साह शिथिल पड़ता है वहीं पर साहस से साधक को स्फूर्ति मिलती है किन्तु और आगे बढ़ने पर कुछ ऐसी निश्चितकम कठिनाइयाँ आती हैं, ऐसी जटिल परिस्थितियाँ बाधक बनती हैं साथ ही मनःस्थिति इतनी डावाडोल हो जाती है जबकि एक मात्र धैर्य के द्वारा ही कोई वीरात्मा सद्‌गति प्राप्त कर सकता है। धैर्य के बिना परमार्थ पथ में प्रगति पाना सम्भव नहीं है।

हमारे सन्त सद्‌गुरु परमहंस जी में कितना उत्कृष्ट धैर्य है– जिसके द्वारा ही संसार में जो कुछ भी कठिन माना जाता है उसी को इन्होंने सरल बनाकर दिखा दिया। इनके लिये किसी प्रकार की तपस्या कठिन नहीं। मौज आई तो बारह–बारह वर्ष बोले ही नहीं, अन्न छोड़ा तो बारह वर्ष अन्न लिया ही नहीं, वस्त्र छोड़ा तो पचासों वर्ष लँगोटी तक भी नहीं धारण की। घर छोड़ा तो बीसों वर्ष किसी घर में घुसे ही नहीं और किसी भक्त के आग्रहवश घर में गये तो दो–चार वर्ष बाहर निकले ही नहीं। कहीं वर्षों बैठे ही रह गये, श्रम का नाम तक न लिया और उठे तो पहाड़ों में चढ़ने का कठिन श्रम

वहन किया। ऐसे स्वतंत्र सन्त के जीवन में धैर्य के बिना कौन नित्य सहायक हो सकता है। हम लोगों को चाहिये कि यदि सन्त की अलौकिक शक्ति, सम्पत्ति के अधिकारी होना है तो धैर्य को निरन्तर साथ रखें क्योंकि प्रत्येक कठिनाई में आपत्ति–विपत्ति में धैर्य के द्वारा ही साधक को दैवी शक्ति प्राप्त होती है।

सन्त की अनासक्ति

संसार में श्रेष्ठ महापुरुष कौन हैं? कुछ लोग वन में रहने वाले तपस्वी की ओर संकेत करेंगे; कुछ लोग समाज की, देश की सेवा में तन, धन समर्पण करने वाले को सर्वोपरि श्रेष्ठ बतायेंगे; कुछ लोग निरन्तर ईश्वर के नाम रूप की आराधना करने वाले के चरणों में मस्तक झुकायेंगे; कुछ अपनी समझ में न आ सकने वाले चमत्कारों को किसी व्यक्ति में देखकर उसे ही महापुरुष कहेंगे, तो कुछ लोग वेदशास्त्र को प्रकाण्ड पंडित की प्रवचन कला में मुग्ध होकर उसी से अपने कल्याण की आशा करेंगे, किन्तु प्रायः देखा जाता है कि आजीवन कष्ट सह कर बड़े–बड़े तपस्वी निपट मूर्ख, मान–पूजा के भूखे, क्रोधी, लोभी हुआ करते हैं। इसी प्रकार बड़े प्रतिष्ठित देश सेवक अपनी सेवाओं को कुछ धन या पदाधिकार अथवा मान के बदले में बेचते रहते हैं तथा प्रतिष्ठित पुजारी अर्थात् भगवत् नाम–रूप के उपासक साधु, भगवान् के प्रेमी न होकर अपने अहंगत रुचियों के कामना–पूर्ति के प्रेमी देखे जाते हैं। इसी भाँति वे चमत्कार प्रदर्शन करने वाले सिद्ध लोग भी अपनी यौगिक शक्ति के मूल्य में सांसारिक वैभव भोग की ही वस्तुएँ लेकर सन्तुष्ट होते हैं और वे वेद शास्त्र पारंगत विद्वान् दूसरों को शान्ति का मार्ग दिखाते हुए स्वयं सांसारिक सुखैश्वर्य के पथ में ही चलते हुए देखे जाते हैं। वास्तव में हमें महापुरुष के दर्शनार्थ इन सब विशेषताओं से आगे बढ़ना होगा क्योंकि

महापुरुष वे हैं, जो संसार की सभी महद् वस्तुओं, सभी अवस्थाओं से ऊपर उठकर परमात्मा में रहते हैं, जो अपने सीमित अहं की अभिलाषाओं, मन की वासनाओं तथा प्राणों के प्रलोभनों से तटस्थ होकर अनासक्त रहते हैं। सबसे–यहाँ तक कि अपने अहंकार से भी जो अनासक्त रह सकता है, वही पूर्ण सत्य में अनुरक्त है।

सन्त परमहंस जी में इसी प्रकार की उच्चतम अनासक्ति और परमात्मा के प्रति पूर्ण भक्ति का दर्शन मिलता है।

प्रायः देखा जाता है कि अपने आस–पास रहने वाले वैभव, ऐश्वर्य के प्रति अनासक्त होना ज्ञानी पुरुष के लिये सरल हो जाता है परन्तु अपने प्रति आसक्ति फिर भी बनी ही रहती है; यह अपने प्रति आसक्ति ही बड़े से बड़े त्याग तथा तप का भोगी बनाकर संसार में पतित करती है; इसीलिये परम गुरुपद में वही प्रतिष्ठित होता है जो अपने प्रति भी आसक्ति का त्याग करता है।

जो महात्मा अपने नाम से आश्रम या मत–सम्प्रदाय, धर्म–संस्था चलाने की अभिलाषा रखते हैं, वे अभी पूर्ण अनासक्त नहीं।

हमारे परमहंस जी को संसार ने अपनी ओर से सुनाम, उपाधि, मान तथा गुरुपद आदि जो कुछ भी दिया, उससे ये सदा अनासक्त ही रहे।

जो संसार में कुछ भी अपना नहीं मानता और अपने को एक परमात्मा में ही आत्मसात् जानता है, वही संसार में अनासक्त महापुरुष है।

सन्त क्रोधजित

क्रोध प्रायः दो कारणों से ही आता है। अभिमान की अधिकता में जब कोई अपने विरुद्ध प्रतिकूल चेष्टा करता हो अथवा अपनी बात न मानता हो एवं अपना अनादर करता हो और लोगों की अधिकता में जब किसी के द्वारा अपनी प्रिय वस्तु की हानि हो या अभिलषित वस्तु न मिलती हो; इन दोनों ही निमित्तों को लेकर क्रोध की उत्पत्ति होती है।

श्री सद्गुरुदेव में न तो अभिमान ही था और न किसी वस्तु का लोभ ही थां अतः इन्हें कभी क्रोध आता ही नहीं था। यह सत्य ही है– कि ''बारम्बार अवज्ञा किये, उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये।'' परन्तु सद्गुरु देव को प्रायः देखा गया कि अवज्ञाकारी व्यक्ति के प्रति तथा बार–बार आज्ञा–विरुद्ध भूल करने वाले के प्रति भी क्रोध नहीं करते थे, अपने को गम्भीरतापूर्वक अत्यंत शान्त ही रखते थे। क्रोध–दमन के लिये सद्गुरुदेव में कितनी करुणा है, कितनी दया तथा अज्ञानी जीवों के प्रति कितना उत्कृष्ट स्नेह है, कितनी सहिष्णुता है– इसकी माप तौल नहीं की जा सकती। श्री परमहंस जी के अनेक शिष्यों में कोई–कोई व्यक्ति बहुत ही उद्दण्ड उच्छण्खल एवं तमोगुणी प्रकृति के थे और लोग प्रायः इनके सन्मुख भी उद्दण्डता का परिचय दिया करते थे परन्तु श्री परमहंस जी ने कभी उनसे यह भी नहीं कहा कि तुम हमारे पास से चले जाओ। इसका अर्थ यह न समझ लेना चाहिए

कि परमहंस जी किसी का पक्ष लेते रहे हों। ये तो शान्त समस्थित रहकर सभी जीवों को अपनी–अपनी प्रकृति एवं विकारों में अधीन देखकर क्षमा, दया, करुणा की वर्षा करते रहते थे।

कोई भी व्यक्ति अपने दोषों, दुर्विकारों के द्वारा श्री गुरुदेव की समता एवं शान्ति को डिगा न सका। इनके शिष्यों में से कुछ लोग इनके समीप रहकर, अपनी कामनाओं को जो जीवन में कभी पूरी न हो सकती थीं, त्याग वैराग्य की वेषभूषा में अपने को छिपाकर पूरी करते रहे, उनमें से कुछ तो मान के भूखे थे, कुछ धन के भूखे थे और कुछ प्यार के भूखे थे। इस प्रकार सभी अपनी–अपनी धुन में मस्त इन समर्थ की शरण में तृप्त होते रहे किन्तु ये महान इन सबका छल–कपट जानते हुए भी किसी पर कभी क्रुद्ध न हुए। ऐसे लोगों के लिये इनके ये वाक्य बहुत गम्भीर हैं– "परमात्मा के सब जीव हैं, अपने–अपने भाव के अनुसार कर्मों के कर्त्ता और भोक्ता बनकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं।" धीर–धीरे सभी जीवों को ज्ञान होगा। सब पर दया करनी चाहिए। वास्तव में स्वामी जी में किसी के सुधारक होने का अभिमान कभी न रहा। इन्होंने किसी को न तो प्रताड़ना दी और न किसी का तिरस्कार ही किया।

वास्तव में ज्यों–ज्यों मनुष्य क्रोधादि विकारों के वश हो जाता है त्यों–त्यों उस विकार का रोकना उसके लिये कठिन होता है, क्योंकि उसी तरह का अभ्यास बन जाता है। जितनी ही बार विकास की मन में क्रिया होती है उतना ही अधिक विकास की आदत को बल मिलता

है। परम पद की प्राप्ति केवल निर्विकार पवित्र जीवन में इच्छाओं को जीतकर उन्हें शान्त करने से ही हो सकती है। इच्छायें दमन करने से ही शान्त हो सकती हैं न कि तृप्त करने से।

ये सन्त युवावस्था का आरम्भ होते ही सुख तथा सुखियों से दूर रह, अरण्य निवासी हो साथ ही मौन रहकर निरन्तर योगाभ्यास में ही संलग्न रहते थे। अनुमान तो यही है, इनके मन में कोई सांसारिक इच्छायें उठती ही न थीं और कदाचित् कोई सांसारिक इच्छा कभी उठती भी होगी तो उसकी पूर्ति का अरण्य स्थलों में कोई अवसर ही न था। अपनी इच्छा का जहाँ कहीं विरोध होता है, किसी भी प्रकार की स्वार्थ हानि में, मान–हानि में क्रोध आता है। हमारे परमहंस जी अभिमान और लोभ का त्याग कर चुके थे, क्रोध आने का कोई अवसर ही न रह गया था। सच है कि, इन्द्रियों को बाँधने के लिये, इच्छाओं को रोकने के लिये जितना कड़ा बन्धन चाहिये उतना बन्धन पशु के बाँधने के लिए भी आवश्यक नहीं होता। इन्द्रिय, मन को जो बाँध लेते हैं वही संसार में सच्चे वीर हैं, वही विजयी है। जिसका चित्त, काम, कोपादि विकारों से मुक्त हो गया है, जिसकी बुद्धि से संशय भ्रान्ति मिट चुकी है वही अपना और पराया हित अच्छी तरह समझ सकता है। पूर्ण संयमी जीवन से ही हित होना सम्भव है। जिसके मन में किसी प्रकार का क्षोभ, उद्वेग नहीं होता, जो किसी वाद–विवाद में नहीं पड़ता, जो निन्दा–स्तुति के चक्कर में नहीं पड़ता वही अपने और दूसरों के हित में सफल हो सकता है।

ये सन्त तो सबके बीच प्रथम से ही असंग निर्लिप्त चित्त होकर विचरते रहे। यह महापुरुष बनावट की भूमि से बहुत ऊपर हैं। भले ही कोई इन्हें अपना गुरु बनाया करे किन्तु ये किसी के कुछ बनाये से नहीं बने। बनाने वाले इन्हें अपने–अपने भावानुसार कुछ भी बना–बनाकर अपने आप भले ही रस लेते रहें। हाँ, अवश्य ही ये सब किसी के सब कुछ की पूर्ति के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं। जबकि हानि के लिये इनके पास कुछ रह ही नही गया है तब हानि पहुँचाने वालों के स्वभाव पर इन्हें क्रोध क्यों आता? जब बिगड़ने के लिए कोई बनावट इनके साथ है ही नही ंतब बिगाड़ने वाले इनके चित्त में क्रोध कैसे पैदा कर सकते थे। ये तो निष्काम प्रेम की दृष्टि से सब प्राणियों के प्रति क्षमा–दया का ही व्यवहार रखते आये। क्रोध के लिये तो इनके सम्मुख अभिमान तथा लोभ–मोह के मार्ग ही बन्द हो चुके थे।

श्री गुरुदेव के उत्कृष्ट तप और उत्तम त्याग के प्रति जहाँ सहस्त्रों हृदय मुग्ध मति से श्रद्धावनत होते रहते वहाँ कभी–कभी ऐसे मनुष्य भी मिल जाते थे, जो इनके नग्न रूप को देखकर प्रायः इनके निरंकुश और विक्षिप्त होने की कल्पना करते हुए इनसे असभ्यतापूर्वक वार्तालाप एवं विवाद भी करने लगते थे किन्तु श्री स्वामी जी महाराज को ऐसे व्यक्तियों पर कभी भी रोष न आता था। ऐसे अवसरों पर या तो आप मुस्करा देते थे या मौन होकर चल दिया करते थे।

श्री सद्‌गुरुदेव की इस अक्रोध स्थिति के दर्शन का यही फल होना चाहिये कि हम लोग भी अपने व्यवहारिक जीवन में क्रोध का

त्याग करें। यदि हम इनके प्रेमी भक्त होने का साहस करते हैं तो यह निश्चित है कि हम लोग इन क्रोधादि विकारों की उपासना करते हुए इनकी उपासना नहीं कर सकते। भले ही इनके भक्त होने की कल्पना करते रहें परन्तु जब तक हम क्रोध का त्याग कर क्षमा, दया, विनम्रता को धारण न करेंगे तब तक इन्हें हम प्रिय नहीं हो सकते। क्रोध में होने वाली क्रियाएँ ही यह सिद्ध कर देंगी कि हम आसुरी शक्तियों के शासन से बद्ध हैं। वहाँ दैवी शक्तियों की कृपा तब तक नहीं पहुँच सकती जब तक हम क्रोधादि दोषों के त्यागी न बनें। क्रोध को सभी पापों का मूल बतलाया गया है। अतः सत्यधर्म का अनुयायी क्रोध का त्याग करता है। परमार्थी पुरुष यदि क्रोध करता भी है तो वह अपने दोषों–दुर्विकारों पर क्रोध करता है। गुरुपद की उपासना कोई भी क्रोधी नहीं कर सकता। श्री गुरुदेव के शरणापन्न होकर क्रोध करना उनकी पवित्र नीति–प्रीति, रीति एवं शिक्षा का दुरुपयोग करना है तथा उनसे विमुख रहना है।

सन्त की सहिष्णुता

जिस प्रकार असहिष्णुता से मनुष्य की दुर्बलता का परिचय मिलता है, उसी प्रकार सहिष्णुता से मानव की शक्ति–शालिता का ज्ञान होता है। जो पुरुष जितना ही विवेकी होगा, जितना ही उत्कृष्ट प्रेमी होगा, उदार होगा वह उतना ही अधिक कष्ट सहिष्णु होगा। दैवी सम्पत्ति–सम्पन्न महापुरुष ही अपनी प्रतिकूल परिस्थिति में सर्वत्र सहिष्णुता के द्वारा ही शान्त समस्थित रहते हैं। सहिष्णु होने के कारण ही वे तपस्वी और दोषों एवं दुर्विकारों से रहित त्यागी देखे जाते हैं। हमारे श्रद्धास्पद श्री परमहंस जी महाराज में असाधारण सहिष्णुता थी। चाहे कैसी ही भयानक सर्दी पड़े या गर्मी बढ़ जाय, उनके नग्न शरीर में जैसे सर्दी–गर्मी के वेगों का कुछ प्रभाव ही न पड़ता हो। इस प्रकार उन्होंने कितने वर्ष बिताये, इसकी ठीक गणना नहीं की जा सकती। प्रत्येक परिचित व्यक्ति ने पचासों वर्ष से इन्हें इसी नग्न रूप में विचरते देखा। कुछ समय से जब वे नगरों–ग्रामों और घरों में विशेषतया आने लगे तब से लोक–मर्यादा के कारण लोगों के सन्तोषार्थ शरीर में एक सिला हुआ कुर्ता कभी–कभी डाले रहते थे। कदाचित् हम लोग उनकी शरीरिक सहिष्णुता को महत्व न भी दें, जो कि साधारण बात नहीं है, फिर भी उनकी मानसिक सहिष्णुता को देखकर तो आश्चर्य से चकित रह जाना पड़ता है। वे

दुःखों के सामने सदैव पर्वत के समान अचल एवं अडिग गंभीर स्थिर होकर ही रहे।

श्री स्वामी जी को अपनी निंदा सुनकर अपनी झूठी बुराई सुनकर कभी निन्दक पर इसलिये ही क्रोध न आता था कि मन में पूर्ण सहिष्णुता है। अकारण अपकार करने वाले के प्रति भी स्वामी जी कभी कुपित नहीं हुए। एक साधु ने इनकी बढ़ती हुई ख्याति से क्षुब्ध होकर ईर्ष्यावश धोखा देकर मस्तिष्क को बिगाड़ देने वाली एक विषैली औषधि पिला दी। स्वामी जी पर उस औषधि का इतना ही असर हुआ कि असमय में ही शीश की जटाएँ कुछ दिन के लिये एक साथ झड़ गईं। सिर पर बिल्कुल केश न रहे। फिर भी स्वामी जी ने उस साधु से कुछ भी न कहा, केवल उसके सम्पर्क से वे दूर हट गये।

श्री स्वामी जी निरन्तर ब्रह्माकार वृत्ति से ध्यानस्थ रहकर कभी–कभी समस्त रात्रि घूमते ही रहते। एक ग्राम से दूसरे ग्राम को चले जाते। वही क्रम जाड़ा गर्मी बरसात सभी ऋतुओं में रहता था। जब कोई भोजन खिलाता था तब खा लेते थे, जब कोई पानी पिलाता तो पानी पी लेते थे। ये कभी किसी से कोई वस्तु स्वयं न मांगते थे। श्री स्वामी जी की हम सब शिष्यों के लिये भी यही शिक्षा थी कि ''किसी से कुछ न मांगो। जो तुम्हारे प्रारब्ध में होगा स्वतः आ जायेगा। आने पर जो कुछ भी मिले, चाहे जितना कम मिले, उतने में ही सन्तोष करो और यदि अधिक मिले तो वापस कर दो अथवा

अभाव पीड़ितों, दुखियों की सेवा में लगा दो।'' श्री स्वामी जी की यही नीति रीति थी। स्वयं वे भिक्षु वेष में परम दानी थे।

इस प्रकार के अलक्षित भ्रमण में भी परमहंस को शरीर से कितने सर्दी, गर्मी, वर्षा के वेग सहन करने पड़ते थे, इसका अनुमान लगाना भी असंभव है। एक बार भ्रमण करते हुए स्वामी जी बहुत बड़े जंगल में पहुँच गये। कोसों बस्ती का पता न था। उसी अरण्य में एक सती का स्थान मिला। स्वामी जी वहीं बैठकर ध्यानस्थ हो गये। भूखे–प्यासे ही वहाँ बैठे रहे। ठीक स्मरण नहीं है तीन या सात रात–दिन बीत गये। वहाँ इनकी किसी ने भी खबर न ली। अन्त में एक बालिका के रूप में सती देवी स्वयं सुन्दर थाल में कई प्रकार की मेवाएँ और जल लेकर उपस्थित हुईं। स्वामी जी ने उस प्रसाद को पाया। जो कुछ वार्ता हुई हो, उसका पता नहीं। स्वामी जी को भोजन करा वह सती देवी अदृश्य हो गईं।

श्री स्वामी जी का यह उपदेश है कि ''परमात्मा पर दृढ़ विश्वास करके कहीं भी बैठ जाओ। हर स्थान पर किसी न किसी रूप में सहायता, प्रेरणा एवं सूचना अवश्य मिलेगी।''

सद्‌गुरु देव श्री स्वामी जी अपनी दिव्य दृष्टि से अन्तरिक्ष में सूक्ष्म शरीर से विचरने वाले विलक्षणारूपधारी जीवात्माओं को यत्र–तत्र देखा करते थे। इसके अतिरिक्त भी वे क्या–क्या देखते थे, इसका वर्णन करना अपनी सामर्थ्य के बाहर है।

अभी तो हमें यही देखना है कि सन्त महात्माओं में कितनी अधिक सहिष्णुता होती है। इलाहाबाद जिले में मऊ नामक एक ग्राम है। वहाँ के निर्जन जंगली टीले में स्वामी जी को एक ब्रह्मदेव मिला। उसके साथ तीन शक्तिशाली सूक्ष्म शरीरधारी व्यक्ति और थे। ये स्वामी जी के शरीर में घुस गये। स्वामी जी को खूनी पेचिस हो गई और छः मास तक बराबर चलती रही तब किसी ऊर्ध्वस्थित शक्ति की अन्तर्ध्वनि हुई कि ''इस योगी पर तुम विजय न प्राप्त कर सकोगे। यह तुम्हारे मारने से न मरेगा।'' इस ध्वनि के होने पर उस ब्रह्मदेव ने परमहंस जी को छोड़ दिया। स्वामी जी का कहना था कि द्वापर में होने वाले महाभारत युद्धकाल के ये शत्रु हैं जो अब तक पीछा करते और बदला चुकाते चले आ रहे हैं।

यहाँ पर पाठकों को संशय होगा कि स्वामी जी को द्वापर का पता कैसे था? इसका समाधान तभी हो सकता है जब प्रश्नकर्ता अन्यान्य सिद्ध–पुरुषों के जीवन चरित्रों का अध्ययन करें क्योंकि जगत्प्रपंच को पार कर जाने वाले महापुरुषों के शरीर के भीतर वे शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं जिनसे बड़ी–बड़ी विलक्षणा दूर–श्रवण, दूर–दर्शन, अनेक जन्मों के संस्मरण एवं दूसरों के जन्मों का भी ज्ञान, आगामी जन्मों का ज्ञान आदि अलौकिक बातें संभव हो जाती हैं! अष्टसिद्धि एवं नवनिधि की चर्चा तो प्रायः सभी आध्यात्मिक विषय के ग्रन्थों में मिलती है, इसके अतिरिक्त योग–विषयक ग्रन्थों में उन्तीस प्रकार की सिद्धियों का और भी वर्णन मिलता है। श्री परमहंस जी में

अनेक प्रकार की सिद्धियाँ हैं, जिन्हें ये प्रायः गुप्त ही रखते आये। कभी–कभी इनमें यदि कहीं चमत्कारिक सिद्धियों का परिचय मिला भी तो वह किसी की सेवा–सहायता करते हुए, किसी को संकट से मुक्त करते हुए ही मिला। साधारणतया तो स्वामी जी सदा गुप्त रूप में ही अनेक प्रकार के असाधारण सेवा–कार्य किया करते थे।

शारीरिक कष्टों को सहन करना तो आपके लिए खिलवाड़ सा था। एक बार बरईगढ़ ग्राम में एक भक्त के यहाँ किसी दुःखी बहू ने अपनी आत्महत्या के लिये संख्या लेकर रखा था। स्वामी जी ने उसे खोज लिया, जब लेकर बालकों के साथ चले तो बालक उसे मीठी वस्तु समझ कर छीनने लगे तब शीघ्रता से स्वामी जी अपने मुख में रख लिया और निगल गए इसलिये कि बालक छीनकर कहीं खा न लेवें। उस विष की मात्रा इतनी अधिक थी कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसे खा लेता तो उसके प्राण बचना असम्भव ही था परन्तु आपने न मालूम कैसे उस विष को पचा लिया। अन्त में उस भयानक विष का प्रभाव इतना तो हुआ ही कि दो–तीन दिन आपको लाल दस्त होते रहे और आप उसी दशा में एक पानी की नहर में ही दो–तीन दिन तक लेटे रह गये। जब विष की गर्मी शान्त हो गई तब स्वस्थ होकर पूर्ववत् बालकों के साथ खेलने लगे। इस प्रकार विष का सेवन कर लेना और उसके भयानक प्रभाव से अत्यधिक कष्ट सहना तथा उसे पचा कर स्वस्थ हो जाना यह सब महान योगी के सामर्थ्य की ही बात है।

श्री परमहंस जी के लिये यह भी एक खिलवाड़ की बात थी और खिलवाड़ में ही बाललीला करते हुए बालकों के साथ खेलते हुए ये इतना अधिक विष खा गये। एक बार पूछने पर आपने यह उत्तर दिया कि ''कोई दूसरा न खा ले इसलिये हमने ही खा लिया।'' श्री परमहंस जी की इच्छा के विरुद्ध किसी भी आधि–व्याधि से किसी भी शत्रु के शस्त्र से अथवा किसी विष से इनके शरीर की मृत्यु नहीं हो सकती थी। इन्हें अपने जीवन में अनेक प्रकार के भयानक से भयानक आघातों का सामना करना पड़ा।

बड़ी–बड़ी व्याधियों का इनके ऊपर आक्रमण हुआ किन्तु ये सदा सब पर विजयी हुए। प्रसंग–वशात् एक बार श्री गुरुदेव ने ही इस रहस्य को स्पष्ट रूप से प्रकट किया। उन्होंने अपने निकटस्थ प्रेमियों को बतलाया कि ''हमें ध्यान में श्री लक्ष्मी जी ने सर्वत्र विजयी होने का वरदान दिया है। हमारे साथ में लक्ष्मी की दी हुई छाप है। इस छाप को देखकर कोई भी शक्ति हमें कहीं जाने से रोक नहीं सकती। साथ ही हमें भगवान् की ओर से अमृत का प्याला पिलाया गया है। इसी से हम किसी के मारे मर नहीं सकते।'' ये सर्वत्र निर्भय होकर विचरते रहे।

मृत्यु से तो यह सन्त सदा खेलते से रहे, क्योंकि इन्हें अपने अविनाशी जीवन का बोध था। अपने सभी भक्तों एवं शिष्यों को भी परमहंस जी ने सहनशील होने की शिक्षा दी है। उनका कहना था कि– ''साधु फकीर को एक मुर्दे की तरह अपनी बुराई, निन्दा तथा

लोकापवाद सुनकर मौन रहना चाहिए। बदले की इच्छा न करके शान्त गम्भीर होकर किसी के द्वारा आने वाले दुःखदायी प्रयोगों को सह लेना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से शक्ति मिलती है और शान्ति भंग नहीं होती, दुष्कर्मों का अन्त हो जाता है।'' श्री परमहंस जी साधुजनों को तो विशेष रूप से मौन रहने, दयालु तथा कष्ट–सहिष्णु होने की प्रेरणा देते आये हैं क्योंकि सहिष्णुता और सत्यपरायणता के योग से ही भक्ति प्राप्त होती है।

शक्ति से ही सहिष्णुता और सहिष्णुता से ही शक्ति की वृद्धि होती है। असहिष्णुता से शक्ति–ह्रास और शक्ति के ह्रास से असहिष्णुता दिखाई देती है। किसी–किसी को शक्ति की कमी रहने पर सहिष्णुता के द्वारा ही सद्गुणों की शक्ति बढ़ानी पड़ती है किन्तु श्री स्वामी जी में प्रथम से ही जन्मजात दैवी गुणों की ही प्रबलता पाई गई। ये अपनी शक्तिशालिता के कारण ही पूर्ण सहिष्णु थे। ये अकस्मात आने वाले प्रतिकूल वेगों के सहन करने में तो अत्यन्त दक्ष ही थे, इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि स्वयं दूसरों की सेवा सहायता करते हुए दूसरों के कष्ट अपने ऊपर ले लिया करते थे। वास्तव में आत्मज्ञान की परख निष्काम प्रेम का परिचय निरन्तर कष्ट–सहिष्णुता के द्वारा मिलता है।

हम लोगों को स्वामी जी की सहिष्णुता का पूर्ण भक्त होना चाहिए। उनकी सहिष्णुता के मनन चिन्तन करने से हमें सहिष्णु होने की प्रेरणा मिलती है। उनकी सहिष्णुता को अपने में धारण करना,

उसका व्यवहार में अभ्यास करना ही उनकी सच्ची भक्ति है। हमारे श्रद्धेय श्री स्वामी जी शक्ति–समर्थ होकर इतने सहिष्णु और हम लोग सब प्रकार से असमर्थ होकर भी कितने असहिष्णु! इसका अनुभव करते हुए अपनी असमर्थता मिटाने के लिये हमें समर्थ स्वामी जी की शरण में सहिष्णुता का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

सहिष्णु होकर ही हम लोग अपने गुरुदेव को अपने द्वारा प्रसन्न देख सकते हैं क्योंकि गुरुदेव के सद्‌गुणों को अपने में धारण करना ही इनके पथ में बढ़ते चलना है। इनकी समीपता तथा कृपा–प्राप्ति का यही एक उपाय है कि हम सब लोग इनकी आज्ञा का पालन करें। सद्‌गुणों को आचरण में लाना ही इनकी आज्ञा है।

जो छुद्र है वह तो छिद्र ही ढूँढता है, अपने ही शरीर, मन को सुखी रखने का प्रयत्न करता है, अशान्ति के विचार रखता है, चिन्ता करता है– वह गुरुदेव के अयोग्य है। योग्य वही है जो सन्त–सद्‌गुरु की आज्ञा पालन करता है; जो सहिष्णु और त्यागी होता है।

सन्त की विरक्ति

जिस योगी में समस्त कामनाओं का बहिष्कार हो चुका हो, उसमें धनादि पदार्थों का लोभ क्यों होगा? श्री स्वामी जी के जीवन में कहीं भी लोभ की झलक नहीं मिलती। यदि किसी अर्थ में लोभ की मात्रा दिखाई भी दी तो वह अधिकाधिक तपश्चरण के लिये ही। इसके अतिरिक्त इन्हें न संसार में कोई लाभ की वस्तु दीखती थी और न उसकी प्राप्ति का लोभ ही था।

अच्छे–अच्छे धनी मानी राजा–रईस, स्वामी जी की सेवा में उपस्थित होते रहे परन्तु इन्होंने अपने त्याग में कभी भी लोभ रूपी कलंक न लगने दिया। हाँ, धनी एवं पूँजीपतियों को दीन दुखियों की सेवा–सहायता करने के लिए प्रेरणा तो अवश्य देते थे किन्तु स्वयं अपने लिए तो इन्हें कभी कोई आवश्यकता ही नहीं अनुभव होती थी वरन् चाहने वालों की चाह को पूरी कर देने की चेष्टा करते रहते थे। अपने शरणागतों के जीवन निर्वाह के लिये उनके स्थानादि का प्रबन्ध भोजन तथा वस्त्र आदि का प्रबन्ध स्वामी जी ने भले ही करा दिया हो किन्तु स्वयं अपने लिये इन्होंने किसी से किसी भी वस्तु की इच्छा न की। ये तो सदा गृहस्थी के साथ रहकर भी अनिकेत असंग्रही अनासक्त होकर रहे।

एक बार इन स्वामी जी को ध्यानावस्था में बहुत बड़ी धनराशि के रूप में लक्ष्मी को स्वीकार करने की प्रेरणा हुई परन्तु यह सन्त इतने निस्पृह थे कि तत्क्षण अस्वीकार कर दिया। परमानन्द से छके हुए महापुरुष को भौतिक सम्पत्ति की चाह क्यों होगी। सन्तों का अनुभव है कि जहाँ लक्ष्मी जाती है उसके साथ चिन्ता अवश्य ही जाती है क्योंकि चिन्ता लक्ष्मी की बहिन है। कंचन, कामिनी और मान के लोभ से जो बचा रह सके वही तो सन्त पद प्राप्त करता है। ये तीनों त्रिगुण की ऐसी विचित्र तिकड़म है जिसमें बड़े–बड़े शक्तिशाली बुद्धिमान् भी चक्कर काटने लगते हैं। सन्त सद्गुरु नागा जी इस तिकड़म में कभी मोहित न हुए, तभी तो बड़े–बड़े लक्ष्मी–सम्पन्न व्यक्ति इनके सामने करबद्ध सेवा करने के लिये तरसा करते थे। अगणित कमनीय कलेवरा इनके अंग–संग में उसी प्रकार संकोच न करती थीं जिस प्रकार माता या भगिनी अपने छोटे बालकों के संग में निःसंकोच रहती हैं। यह सर्वाधार महान् परम सत्य का अनुभव करते हुए अहंकार को अभिमान से शून्य कर चुके थे। सुख वासना के अनुसार ही वस्तु की चाह होती है, चाह के अनुरूप ही आसक्ति होती है। सन्त सद्गुरु का हृदय वासना से पूर्ण रिक्त हो चुका था तभी किसी भी वस्तु या व्यक्ति के सौन्दर्य में मोहकता प्रतीत ही न होती थी।

वस्तु या व्यक्ति की आसक्ति ही बन्धनकारी होती है। ये सन्त तो सदैव सबसे निरासक्त ही थे। इनके मन में मान का, माया का तथा

भोगों से मिलनेवाले सुख का कुछ प्रभाव न पड़ता था क्योंकि ये महात्मा सत्स्वरूप में स्थित रहकर निरन्तर अक्षय अद्वितीय आनन्द का आस्वादन करते थे।

पुरातन काल से संसार उन्हीं पुरुषों को महान् पद में प्रतिष्ठित देखता आ रहा है जो आत्मसंयमी होते हैं, जो बड़ी से बड़ी विपत्तियों में समस्थिर रहते हैं, जो परम संतोषी नित्य प्रसन्न रहते हैं, जिनके मन में मान, बड़ाई, धन की इच्छा नहीं रहती, जिनका निष्कलुष अन्तःकरण अकलंक शुभ्रता से चमका करता है। हमारे परमहंस नागा जी इसी कोटि के सन्त हैं। यह सन्त इस कारण से सदा विरक्त रह सके कि दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न थे। इस संसार के बड़े–बड़े राजाओं महाराजाओं के पास ऐसा कुछ था ही क्या, जिसे देखकर यह सन्त आकर्षित होते। ये तो अन्तर्जगत की बड़ी–बड़ी शक्तियों के कृपापात्र होते हुए साक्षात् लक्ष्मीमाता का वरदान पाकर भी अभिमान को प्राप्त न हुए।

कैलाश लोक के नीचे जितने भी लोक पड़ते हैं सभी लोकों के अधीश्वरों ने सन्त सद्गुरु को अपने ऐश्वर्य वैभव की महिमा दिखा कर रोकना चाहा और न रुकने पर कहीं–कहीं ताड़ना भी दी परन्तु ये सन्त अपने लक्ष्य से विचलित न हुए। अन्त में अनेक सिद्धों ने, शुक्राचार्य–सदृश गुरुओं ने इनकी परमगति में सहायता की। स्वयं लक्ष्मी माता ने सदा विजयी होने का वरदान दिया। उस वरदान के बल पर ही ये सन्त भयंकर रण तथा वन के बीच से चलते हुए

बड़ी–बड़ी व्याधियों एवं विपत्तियों का सामना करते हुए कही पराजित न होकर अन्त में ध्यानयोग के द्वारा कैलाश धाम को प्राप्त हुए।

इन सन्त की समीपता में आकर जिसको जो उचित लगा उसने उनका वही नाम रख लिया। कहीं ये रामदास कहलाये, कहीं हरनाम दास नाम से पुकारे गये, कहीं नागा, कहीं नागा गिरधारी, कहीं नागा बाबा और कहीं नागा निरंकारी नाम बनते चले गए। कहीं पर इनके नाम से आश्रम बनाने की चेष्टा की गई– जिसकी जैसी भावना थी वैसे प्रयास किया किन्तु ये सन्त तो सदा सब कुछ से विरक्त ही रहे। इनकी विरक्ति का एक मोटा सा उदाहरण है– अपने शरीर पर, इन्द्रियों पर, मन पर अपना नियन्त्रण। इनकी विरक्ति का दूसरा चिन्ह है मोह अभाव और स्वाग्रह का त्याग।

विवेकी पंडितों ने तथा सभी धर्मशास्त्रों ने उसी महापुरुष को संत कहा है जो सबसे अनासक्त है, जो आशा का त्याग करके, माया–सम्मान, हानि अपमान से होने वाले हर्ष–शोक का त्याग करके, निन्दा–स्तुति में अविचलित रहता है ऐसे सन्त को भगवद्गीता स्थितप्रज्ञ कहते हैं। ये अपने आप पर और संसार पर विजय प्राप्त करते हुये हम सबको यह सिखाते हैं कि आत्मसंयम और अहंत्याग कैसे करना चाहिये।

इन सन्त सद्गुरु ने अपने लिए कहीं भी कोई घर न बनाकर यह दिखाया है कि मनुष्य घर के बिना भी रह सकता है। यह सन्त

आजीवन नग्न रहकर वर्षा, गर्मी, सर्दी में कोई वस्त्र न लेकर पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न रहते हुए यह सिद्ध करते हैं कि प्रकृति की स्वाभाविक गतिविधि मनुष्य की नाशक नहीं है। यदि मनुष्य स्वयं ही उसका विरोध न करे तो प्रकृति की ओर से ही जीवन–संरक्षिका शक्ति प्राप्त होती है, सहिष्णुता अत्यधिक बढ़ जाती है। ये सन्त एक कौड़ी की भी चिन्ता न करके लोभी मनुष्यों को यह संदेश देते हैं कि वास्तव में सत्यनिष्ठ जीवन के लिये धन की भी आवश्यकता नहीं प्रत्युत सन्तोष एवं उदारता की आवश्यकता है; क्योंकि इसके बिना धनी मनुष्य भोग–सुखों के पीछे अन्धा होता है और परतन्त्र तथा अपराधी होता है। लोभी मनुष्य सबसे नीच और निर्लोभी सन्त सबसे उच्च होते हैं, आसक्त व्यक्ति सर्वदा परतन्त्र बद्ध होते हैं, विरक्त महापुरुष स्वतन्त्र मुक्त होकर रहते हैं।

सन्त में परम ज्ञान

सिद्ध–सन्त महापुरुषों के द्वारा ही संसार में मानव–जाति को अपने भीतर ईश्वरीय ज्ञान तथा प्रेम की अभिव्यक्ति का सन्देश सुलभ हुआ है, इन्हीं की प्रेरणा से दिव्यता की प्राप्ति के लिये मानवता जाग्रत होकर सत्योन्मुख हुई है।

परम ज्ञान के प्रकाशित न होने तक मानव अशुद्ध बुद्धि के साथ कर्म करता है और तभी तक उसका संकल्प भी अशुद्ध रहता है, इसीलिये कर्म बन्धन में पड़ता है और आशा, भय, क्रोध, शोक से घिरे रहने के कारण सुख से तृप्त, तुष्ट नहीं हो पाता।

सन्त–महापुरुष बद्ध–दुःखाकान्त जीव को परम ज्ञान का प्रकाश दिखाते हैं, मन तथा इन्द्रियों की पराधीनता से छूटने का साधन बताते हैं अपने ज्ञान से पापों को न करने, केवल पुण्यों को संचित करने की शिक्षा देते हैं। हमारे सन्त परमहंस जी परम ज्ञानी थे, इनके उच्चतम ज्ञान का दर्शन बौद्धिक विद्वतापूर्ण वाक्यों के द्वारा नहीं होता प्रत्युत इनकी नित्य निर्भय, निर्द्वन्द सभ्यावस्था एवं सहज शान्ति को देखकर होता है। सांसारिक भोग सुखों से सदा विरक्त रहकर मायिक रूपों में कहीं भी मोहित न होकर किसी भी समीपवर्ती वस्तु या व्यक्ति को अपना न मानकर ही इन्होंने बताया है कि संसार का इन्हें पूर्ण ज्ञान है।

सन्त का ज्ञानमय जीवन विश्व की स्वार्थहीन सेवा के लिये होता है। हमारे परमहंस जी पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान नहीं मानते थे, क्योंकि इस सांसारिक ज्ञान से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। अभिमान की वृद्धि और प्रायः ऐहिक सुख–स्वार्थ की सिद्धि में यह पुस्तकीय ज्ञान अवश्य ही सहायक होता है। इनके मत से परमात्मा का भजन करते–करते भीतर से अपने आप ही परम ज्ञान होता है।

मुझे स्मरण है कि ये सन्त मेरे हाथ में पुस्तक देखकर कभी–कभी मुझे समझाते कि ''ये पुस्तकें पढ़ने से वह सत्य ज्ञान न मिलेगा, जिससे परम शान्ति मिलती है, वह तो मन लगाकर भजन करने से हृदय निर्मल होने पर ही सुलभ होता है।'' सन्त के इन वाक्यों का मर्म तब मेरी समझ में न आता था, इतना सुनकर भी मैं पुस्तकाध्ययन से विरक्त न हो सका परन्तु कितने ही वर्ष बीत जाने पर अब मैं अपने आपको जब देखता हूँ तब स्पष्ट दीखता है कि पुस्कीय ज्ञान से कदापि मुझे शान्ति न मिली, न मेरे दोष ही दूर हो सके। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि सत्य के ज्ञान अथवा उसके अनुभव के लिये अन्तःकरण को पवित्र बनाने का साधन कुछ और है।

विद्या के बल से हम सत्–असत् का विवेचन कर सकते हैं, कदाचित् सत्–असत् का कुछ क्षण ज्ञाना–भास भी हो सकता है परन्तु असत् से विरक्त होकर सत्य में अनुरक्त नहीं हो सकते अर्थात उसे हम अपने में पा नहीं सकते, उससे आत्मसात नहीं हो सकते। सत्यानुभव अर्थात् आत्मस्थ होने के लिये तो हमें बुद्धि के अतिरिक्त

हृदय को खाली करना होगा; अन्तर्मुखी वृत्ति के सहारे हृदस्थ चेतना की गहराई में गोता लगाना होगा इसी के लिये ये सन्त मन लगाकर जप, सुमिरन, चिन्तन, ध्यानाभ्यास पर विशेष प्रेरणा देते थे क्योंकि परम पवित्र सत्य के स्मरण, चिन्तन, ध्यान से ही अन्तःकरण पवित्र होता है। जिसका अन्तःकरण निर्मल है वही परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। सत्य के साक्षात्कार होने में जगत–दृश्य के प्रति राग द्वेष, अज्ञान, भय तथा अभिमान और असंयम ही बाधक है; इन सब पर विजय पाना परमार्थी के लिये अत्यावश्यक है। जब तक हम अपना हृदय पवित्र न बना लेंगे तब तक ईश्वर से प्रेम करने की बात तो दूर है– मनुष्य से भी हम शुद्ध प्रेम नहीं कर सकते।

कितना समय बिता कर हम सन्त सद्‌गुरु के उपदेश को समझ पाये कि सत्य परमात्मा का योग ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें बड़े–बड़े धार्मिक ग्रन्थों से न चिपटे रहना चाहिये प्रत्युत अपने हृदय को ही शुद्ध बनाना चाहिये।

विद्याध्ययन, ग्रन्थाध्ययन जहाँ तक हृदय की शुद्धि में सहायक है वहीं तक प्रशंसनीय हैं किन्तु जहाँ विद्या से अथवा शास्त्राध्ययन से ज्ञान का अभिमान बढ़ता है वहाँ सन्तजन इसका आदर नहीं करते।

चाहे कितने ही ग्रन्थों का अध्ययन कोई करे आत्म–कल्याण के लिये जो शिक्षा मिलती है वह यही कि सत्यनिष्ठ होकर रहो, सरल–विनम्र बनो, हृदय को निर्मल रखो और शीतल, दुःख में

धैयपूर्वक प्रसन्न और संकट के समय स्थिर बुद्धि द्वारा विवेक से काम लो, मृत्यु के प्रति अभय रहो, सनातन के प्रेमी बनो–इसी शिक्षा में ज्ञान और प्रेम की पूर्णता सिद्ध होती है। सन्त सद्‌गुरु के आदर्श जीवन में यही सब बातें मूर्तिमान मिलती है।

ये सन्त परम ज्ञानी थे किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इनको कभी हमने पढ़ते लिखते नहीं देखा, न किसी धर्मग्रन्थ का वाक्य दुहराते सुना। वाद–प्रतिवाद व्याख्यान–प्रवचन की कला तो यह जानते ही न थे। ऐसा लगता है कि कभी किसी विद्वान के व्याख्यान सुनने का आजीवन इन्हें अवसर भी नहीं मिला। ये अपने लिये कभी आवश्यकता भी न समझते थे। इन्हें कुछ सुने पढ़े बिना ही सत्य का बोध हुआ था। इनके वाक्यों को सुनकर विद्वान पण्डितजन अपने शास्त्रों से मेल मिलाकर सन्तुष्ट होते थे। इनका अपना स्वतन्त्र अनुभव था, वाणी तथा मन की क्रियाओं से विदित होता था कि प्रत्येक क्रिया गम्भीर ज्ञान विवेक के शासन से सधी हुई है। किसी के यथार्थ ज्ञान की नाप केवल वाक्पाण्डित्य को देखकर नहीं होती प्रत्युत त्याग तथा प्रेम को देखकर होती है। जो पुरुष असत्य का, अशुभ का, असुन्दर का, अनावश्यक का त्याग करता है और सत्य, शुभ, सुन्दर एवं आवश्यक के प्रति अनुराग करता है वही वास्तविक ज्ञानी है। हम अपने परमहंस जी में इसी कसौटी से ज्ञान की महत्ता का दर्शन करते हैं। हम देखते हैं कि सन्त परमहंस जी के मन को कभी मलिनता छू न पाती थी। जब ये प्रपंचियों की भीड़ में उतरे,

वर्षों उनके बीच में रहे, तब भी सदा जंजाल से मुक्त ही रहे, लौकिक तृष्णा ने कभी इनके समीप स्थान न पाया। प्रपंच को सदा फटकारते ही रहे। न किसी के आगे दीन बने, न किसी का स्वामित्व ही स्वीकार किया, न किसी से बँध कर रहे, न किसी को अपने से बाँधकर चले–यही तो सच्चे ज्ञानी की स्थिति है। मुक्त रहना परम वीर होना, सर्वत्र विजयी होना, सुख–वैभव की आसक्ति से दूर रहना, पशु वृत्ति से मन को सदा दूर रखना यही तो ज्ञानी का स्वभाव है, यही तो हमने परमहंस जी में देखा।

सत्य ज्ञान की दृष्टि से ही परमहंस जी अपने अस्तित्व में परमात्मा का अस्तित्व देख सके। तभी तो ये अपने अहंकार को सत्य के समर्पित कर सके थे और अभिमानशून्य होकर इतने अहंकार को सत्य के समर्पित कर सके थे और अभिमानशून्य होकर इतने विनम्र थे कि कभी किसी के प्रति कठोर, कटु, कर्कश वाक्यों का प्रयोग करते सुना ही नहीं गया। मैंने अनेक बार उन व्यक्तियों को इन सन्त सद्गुरु से झगड़ते क्रुद्ध होते देखा, जो अपने को सेवक, शिष्य मानते थे। अनेक बार इनके शरणागत शिष्यों को आज्ञा–उल्लंघन करते, अवज्ञा करते, अपनी रुचिपूर्ति के लिए चोरी करते देखा। उनमें से मैं भी एक हूँ परन्तु ये महान् सन्त ज्ञानबल से अभिमानरहित होने के कारण ही सदा एकरस शान्त रहकर सदा दया कृपा की ही वर्षा करते रहे। इनमें कहीं विषमता नहीं देखी गई क्योंकि ये यथार्थ ज्ञानी सन्त हैं– ज्ञानी की कसौटी समता है, बुद्धि की स्थिरता है, मन की

निश्चलता है। हमें यह भी स्मरण है कि जब परमहंस जी के समीप अनेक व्यक्ति अपने उद्धार, सुधार का प्रश्न लेकर आने और धीरे–धीरे साथ रहने लगे, उनमें से कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो अपने असदाचरण दुर्व्यव्हार के कारण ही प्रसिद्ध थे। हम दो–एक व्यक्तियों ने गुप्त रूप से गुरुदेव के निकट उनका जब परचिय दिया तब जो कुछ हमें उत्तर मिला, उससे हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि ये सन्त हमसे अधिक हर व्यक्ति के विषय में जानते हैं। फिर भी 'आत्मवत–सर्वभूतेषु' की दृष्टि से शरणागत होने पर कोई कितना भी पापी अपराधी क्यों न हो उसका तिरस्कार नहीं करना चाहते है– यह है सन्त की समता जो विपरीत व्यक्ति तथा वस्तु के संयोग होने पर भी अडिग रहती है।

एक बार एक ऐसे सेवक आये जो परमहंस जी के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखते थे। इनके ऊपर कर्ज बढ़ जाने के कारण उनका मकान नीलामी पर चढ़ा दिया गया था। वे सीधा एक तोला अफीम लेकर गुरुदेव के समीप उपस्थित हुये और अपना दुराग्रह प्रकट किया कि 'या तो हमारा मकान बचाओ या फिर यह अफीम खाकर मैं शरीर छोड़ दूँगा'। मैं भी उनकी उल्टी बातें सुन रहा था। हमारे सन्त दीनता से यही कहते जाते थे कि भाई इसमें हम क्या कर सकते हैं परन्तु वे महाशय उत्तेजित हो रहे थे कि 'आपको मकान बचाना ही पड़ेगा। आपके आशीर्वाद से मुझे मकान मिला था।' इत्यादि बातें सुनकर मुझसे न रहा गया। मैं तो उनसे बिगड़ गया। उनकी सेवा भक्ति भावना पर लांछन देते हुये उन्हें सेवक का जो कर्त्तव्य है उसका

स्मरण दिलाने लगा पर परमहंस जी तो एकरस जैसे के तैसे शान्त ही बैठे रहे। अपनी साम्यावस्था की दृढ़ चट्टान से किंचित् भी न हिले डुले, अन्त में उस सेवक के साथ जाकर जो कुछ उसने इनसे सहायता लेनी चाही उसे दी। जैसे कोई किसी के हाथों का यन्त्र बन जाये, उसी प्रकार परमहंस जी अपने को आर्तअर्थार्थी भक्तों के लिये दे दिया करते थे। यह है सन्त की क्रिया, ज्ञान के प्रकाश में, बुद्धि की सत्य में अवस्थित और निरन्तर उसी सत्य लक्ष्य का ध्यान।

वास्तव में सन्त महापुरुषों में जो ज्ञान देखा जाता है उससे लोभ, मोह, मान, मदादि दोष दुर्विकार नष्ट होते हैं। इसके विपरीत दुर्जनों में कदाचित् ज्ञान की वृद्धि होती है तो मान मदादि दोष और भी बढ़ जाते हैं। ये सन्त महापुरुष समस्त संसार के लिये अमूल्य निधि हैं क्योंकि स्वभाव से ही परोपकारी, त्यागी हैं और इसीलिए ऐसे हैं ये परम सत्य के ज्ञानी हैं।

सन्त ही जीव को समयोचित सम्मति देते हैं। ये दूरदर्शी, परिणामदर्शी होते हैं। जीव के दोषों का नाश, सद्‌गुणों का विकास, ज्ञान का प्रकाश जिस विधि से हो सकता है, यह सत्‌दर्शी सन्त ही जानते हैं और वही उपाय बताते हैं। सभी सन्त ईश्वर भक्ति की, आत्म समर्पण की, परमात्मा में अहं को खोये रहने की अथवा सत्य से अभिन्न हो जाने की शिक्षा देते आयें हैं। सन्त परमहंस जी भी जिज्ञासुओं को इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा के निर्गुण तत्व, सगुण रूप दोनों का ज्ञान, ध्यान बताते थे।

आपका कहना था कि तप के साथ जब करते हुये परमात्मा ही अपनी कृपा से ध्यान की डोरी देंगे, उसी से योग दृढ़ होगा। योग होने पर ही संसार से वैराग्य होगा। तत्पश्चात परमात्मा का परे–ज्ञान होगा।

प्रायः साधक को यह सन्त किसी कठिन साधनाभ्यास की सम्मति न देते थे। आप प्राणायाम, मूर्तिपूजा, व्रत, उपवास, तीर्थ–यात्रा के विशेष पक्षपाती न थे। साथ ही किसी को मना भी नहीं करते थे। अहंकार, अभिमान, कठोरता, निर्दयता, त्याग के लिए बहुत जोर देते थे। घर–परिवार, सम्पत्ति छोड़ने के लिए कभी किसी को न कहते थे। आप सन्त कबीर, पलटू, पीपा, भगत रैदास, गुरु नानक आदि प्राचीन महापुरुषों को ही परमात्मा के योगी मानते थे। वर्तमान समय के बड़े–बड़े उद्भट् विद्वान जितने महात्मा प्रतिष्ठित हैं, उनकी विद्वता को आप किंचित भी महत्व न देते थे। ये पुस्तकीय ज्ञान को माया का ज्ञान कहते थे।

ज्ञान के द्वारा ये सन्त परमहंस जी अपने को और सब जगत को भी ब्रह्ममय देखते थे। ज्ञान के बल पर ही ये किसी भी परिस्थिति के वशीभूत न होते थे। ज्ञानी होने के कारण ही परमात्मा के प्रेमी अर्थात परम भक्त थे। इनकी बुद्धि शुद्ध थी, संकल्प पवित्र थे।

हम लोगों को सन्त सद्गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा द्वारा इसी प्रकार के मुक्तिप्रद ज्ञान को प्राप्त करना है और इसके लिए मन की

वृत्तियों का पूर्ण निरोध करना होगा, संगाभिमान से असंग होकर रहना होगा। कल्पनातीत का अनुभव कल्पनाओं के अन्त होने पर ही होगा। वैराग्य और अभ्यास से ही सफलता सम्भव है। गुरुकृपा द्वारा ही वैराग्य–अभ्यास सुलभ होगा। गुरुकृपा के लिए गुरुभक्ति दृढ़ होनी चाहिए। गुरु की आज्ञानुसार चलना, गुरु के वचनों में अटल विश्वास रखना ही गुरु भक्ति है। गुरु की समीपता में अनुभव के लिए घोर प्रयत्न ही गुरु की सेवा है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि त्यागपूर्वक तत्वज्ञान से ही शान्ति मिल सकती है।

ये सन्त हम सबको यही बताते आए कि सत्य का ज्ञान अपने हृदय में ही छिपा है, ऊपर का आवरण (पर्दा) हटाकर उसे प्राप्त करना चाहिए।

देहाभिमान गलने पर सत्य का ज्ञान स्वतः हो जाता है। जैसे–जैसे परे ज्ञान की दृष्टि स्थिर होती जाती है वैसे ही वैसे सृष्टि विलीन होती जाती है। सत्य ज्ञान के लिए बुद्धि की निर्मलता अत्यावश्यक है।

वास्तव में अपने साथ परमात्मा के होने से हमारा मोक्ष नहीं होगा। परमात्मा–आत्मा के ज्ञान से मोक्ष होगा।

प्रत्येक मनुष्य में भिन्न–भिन्न चक्रों से विशेष प्रकार की शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं। निम्न चक्रों के द्वारा स्थूल कामना वासना–पूर्ति की शक्ति मिलती है। इसी प्रकार उच्च चक्रों के द्वारा पवित्र भावनाओं

अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये शक्ति मिलती है। शरीर में ऐसा भी चक्र है जो ज्ञान का स्त्रोत है–उसे आज्ञाचक्र कहते हैं इस चक्र के द्वारा ही स्मृति और ज्ञान का प्रकाश विकसित होता है। यह चक्र गुरु के स्पर्श से, प्रगाढ़ भक्ति–भावना से, ध्यानाभ्यास की दृढ़ता से, मंत्रजप अथवा उग्र तप से पूर्णतः क्रियाशील होता है। इस चक्र के खुलने पर बिना पढ़े ही सत्य ज्ञान प्रकाशित होता है; इस ज्ञान–प्रकाश में जो कुछ भी सामने आता है, उसका यथार्थतः बाह्याभ्यन्तर रूप दीखने लगता है। इस चक्र के जाग्रत होने पर स्वतः अनायास ही कविता बनाने की शक्ति आ जाती है। संसार में अनेक सन्त विलक्षण तत्व–ज्ञानी हैं जो कुछ भी पढ़े न थे। हमारे सन्त परमहंस भी ऐसे ही सिद्ध ज्ञानियों में से हैं। इन्हें जगद् और जगद्धार तत्व का बिना पढ़े–लिखे ही पूर्ण ज्ञान था। ये पुस्तकों को देखकर कहते थे कि ये तो वृक्ष में से झड़ी हुई पत्तियों के समान लिखी हुई बातें हैं, जिनमें सार तत्व नहीं मिलेगा। हम जब तत्वज्ञान की जिज्ञासा लेकर कुछ प्रश्न करते थे तब उसका गम्भीर उत्तर देते हुए यही कहते कि ''उसका ज्ञान भीतर से होगा, भजन करो, जप करो, ध्यान करो, जो कुछ करो अंधाधुंध गति से करो, मन लगा के करो। सब जीव उसी परब्रह्म में रहते हैं, उसे अपने में खोजो। अपने को उसी परम ब्रह्म में अनुभव करो।''

हमारे सन्त परमहंस जी अपने आपको परमेश्वर में जानते हुए पूर्णता को प्राप्त हुए थे और अपने आप में परमेश्वर को देखते हुए

निर्वाण पद में पहुँचे थे, इसके साथ ही अपने आपको बिल्कुल न देखते हुए एकमात्र परमात्मा को ही अनुभव करते हुए नित्यता के परमानन्द में तन्मय थे।

परमात्मा में अपने को और अपने में परमात्मा को अनुभव करना ही तो सत्य ज्ञान है।

जिस ज्ञान से सारा जगत चिन्मय दीखने लगे, उसे ही सन्त ज्ञान जानते हैं। आत्माकार वृत्ति को ही आत्मज्ञान कहते हैं।

अपनी चित्तवृत्तियों को आत्माकार बना लेना ही अभ्यास है; विषयाकार वृत्ति को छोड़ना ही वैराग्य है।

आत्मज्ञान के लिये इस प्रकार नित्य अभ्यास और वैराग्य की दृढ़ता आवश्यक है। इसके साथ ही अपने क्षुद्र अहंकार को जीव–सेवा में नियुक्त करना होगा।

प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति से अनासक्त रहना होगा। बदले की इच्छा न रखकर जो कुछ हम हैं और जो कुछ हमारे पास है, उसे भगवान को समर्पित करना होगा। संसार के पदार्थों की क्षणभंगुरता को समझे रहना होगा। तभी पूर्ण भक्ति एवं मुक्ति सिद्ध होगी।

सन्त–सद्गुरु इसी ज्ञान–मार्ग में चलते हैं। वे उस शान्ति को जानते हैं जो उसके प्रथम समझ में नहीं आ सकती। ये उस आनन्द का अनुभव करते हैं, जिसे सांसारिक दुःख कभी बाधा पहुँचा ही नहीं

सकता। ये सन्त उस विश्राम को जानते हैं, जिसे भूडोल हिला नहीं सकता।

सन्तों की दिव्य दृष्टि

सन्तों की दृष्टि बहुत ही पैनी अन्तर्भेदी दूर–प्रसारिणी होती है। किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति को आँखों के द्वारा पशु–पक्षी भी देखते हैं; उसी को दानव एवं मानव भी देखते हैं परन्तु एक समान देखते हुए सबके अर्थ भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं। जब तक आँखों के पीछे इन्द्रिय–सुखोपभोगी मन काम करता है तब तक संसार की वस्तु अथवा व्यक्ति का कुछ और ही रूप दीखता है किन्तु जब नेत्रों के पीछे सत्य में व्यवस्थित बुद्धि काम करती है तब प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति कुछ गुणों या दोषों का आकार मात्र न रहकर विराट् सत्य की झाँकी बन जाता है।

एक छोटे से पानी के मटमैले गर्त में एक साधारण व्यक्ति को जब कुछ मेढकों, मछलियों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता, वहीं पर एक दूरदर्शी बुद्धि वाले महात्मा को एक–एक बिन्दु के भीतर विश्व–सृष्टि का दर्शन होता है। एक व्यक्ति को इस विशाल विश्व में अपने समीप दो–चार व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई अपना नहीं दिखाई देता, वहीं पर यथार्थदर्शी सन्त को संसार में कहीं कोई पराया नहीं प्रतीत होता। इतना ही दृष्टि–भेद होने से एक व्यक्ति को अज्ञानी कहते हैं और दूसरे को ज्ञानी महापुरुष कहते हैं। जहाँ अज्ञानी को नेत्रों से प्रत्यक्ष दीखने वाला रूप सत्य प्रतीत होता है, ज्ञानी को वही रूप क्षण–क्षण बदलने वाला मिथ्या प्रतीत होता है। इसीलिये जिस

दृश्यमान रूप पर अज्ञानी मोहवश अनुरक्त होता है, ज्ञानी उसी रूप से विरक्त रहता है।

जब हम श्रद्धेय सन्त परमहंस जी के दृष्टिकोण पर गम्भीर विचार करते हैं तब इनकी तत्वदर्शी, सत्यदर्शी ब्रह्माण्डव्यापिनी प्रज्ञा दृष्टि का अनुभव होता है। इनके आस–पास कितनी ही प्रकार की सुन्दर मानी जाने वाली वस्तुओं की बहुलता रहती थी, जाति–पाँति के भेद–प्रभेद मानने वाले कितने ही इनके समीप रहते थे परन्तु इनके मस्तिष्क तक पहुँचते–पहुँचते अनेक भिन्न–भिन्न नाम–रूपात्मक भावनाएँ एक चिन्मयानन्द में विलीन हो जाती थी। इनकी कृपा–दृष्टि का अधिकारी जिस प्रकार एक ब्राह्मण था, उसी प्रकार एक शूद्र चाण्डाल भी था। इनके चरणों में एक पतिव्रता साध्वी देवी जिस प्रकार बैठ सकती थी उसी प्रकार एक वैश्या भी अपने कल्याण की साधिका बन सकती थी। हमने इन्हें एक राजप्रसाद से निकलकर दरिद्र की झोपड़ी में रूखी रोटी खाते और प्रेम से अपनाते देखा है।

मेरी धारणा बन चुकी थी कि ये महान हैं क्योंकि इनकी सेवा में बड़े–बड़े प्रतिष्ठित धनी, मानी, राजा, सेठ, उच्च पदाधिकारी उपस्थित रहते हैं परन्तु उस दिन मैं देखकर चकित रह गया जब एक निर्धन वृद्धा के रोग–निवारणार्थ इन्हें औषधि तैयार करने के लिये चूल्हे में लकड़ियाँ लगाते तथा उसमें अग्नि फूँकते देखा। हमें स्मरण है कि कुछ दूर पर खड़े हुए इनके इस तरह के लघु कृत्य को देखकर अपने अभिमान पर हमें लज्जा आ रही थी। हम यह भी उस समय

सोच रहे थे कि ये सन्त हमसे इसीलिये काम नहीं लेते कि हमारे अभिमान को कुछ ठेस न लग जाय। समय वाणी से नहीं प्रत्युत अपने कर्म से ये शिक्षा भी दे रहे थे कि 'कोई निरभिमानी ही दैवी सम्पत्ति का धनी हो सकता है।'

उसी दिन से मैंने समझना आरम्भ किया था कि महान में कितनी नमनशीलता होती है और बहुत समय बिताकर यह जान सका कि जो कोई अपने को धूल से भी तुच्छ मानकर संसार में जीवन–यात्रा करते हैं वही सर्वोपरि महान् की प्रतिष्ठा अपने में कर पाते हैं। वही ये सन्त हैं, जिन्हें संसार मस्तक झुकाता है; वही ये सन्त हैं जिन्हें संसार ही अव्यक्त परमात्मा का व्यक्त रूप दिखाई देता है अर्थात् सब कुछ ब्रह्ममय दीखता है। इस प्रकार की दृष्टि को ही सत्यदर्शी, तत्वदर्शी दिव्य दृष्टि कहते हैं, जो सन्त के ही जीवन में होती है।

दिव्य दृष्टि के द्वारा निरन्तर शाश्वत सत्य आत्मा–परमात्मा को प्रत्येक नाम–रूप का प्रकाशक देखने रहने के कारण ही ये सन्त किसी व्यक्ति से घृणा न करते थे, किसी को नीच मानकर ग्लानि न करते थे और किसी पर क्रोध न करते थे प्रत्युत प्राणिमात्र के प्रति दया–सहानुभूति का बर्ताव रखते हुए सबको प्रेमपूर्वक अपनी शरण में स्थान देते थे, आज भी दे रहे हैं।

सन्त–चरित्र का मनन करते हुए यही समझ में आ रहा है कि जो यथार्थ सत्यदर्शी होगा, वही पूर्ण दयालु, नित्य क्षमावान, अनन्त कष्ट सहिष्णु, सतत दानी, परमशान्त और हर एक दशा में, अवस्था में निर्भय रहेगा। यह भी स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि सुखोपभोग की तृष्णा–पूर्ति का पक्ष लेना, लोभी, मोही, क्रोधी, अभिमानी, ईर्ष्यालु, निन्दक होना अदूरदर्शी, असत्‌दर्शी, मन्ददृष्टि होने का प्रत्यक्ष परिचय है। मनुष्य कामना–पूर्ति के सुख में इसी लिये आसक्त है कि कुछ देर में निश्चित होने वाले दुःखद परिणाम को नहीं देखता। वह मन्द दृष्टि होने के कारण मोह के, लोभ के, क्रोध के भी अन्तिम अति कटु फल को नहीं देख पाता। इसीलिये कामी, क्रोधी, लोभी, मोही को अदूरदर्शी कहा गया है।

सन्त दूरदर्शी होते हैं। इसीलिये ये ऐसा कुछ भी नहीं करते, जिसका परिणाम दुःखदायी हो, बन्धकारी हो, पुण्यनाशक हो, पापपोषक हो।

दूरदर्शिता के कारण ही सन्त सद्‌गुरु में अटूट धैर्य देखा गया, स्थिर गम्भीरता देखी गई, क्षमा एवं सदा दया का ही व्यवहार करते पाया गया। इसीलिये तो ये सन्त भोगजनित सुखों से विरक्त होकर दोषों के त्यागी होकर केवल परमात्मा के ही अनुरागी होकर जगत में विचरे क्योंक ये दूरदर्शी, सत्यदर्शी दृष्टि वाले थे।

विश्व में जो कुछ भी देखने या सुनने में आता है, उसकी उत्पत्ति एकमात्र सत्य से ही होती है, स्थिति अथवा उसकी गति भी सत्य में ही होती है और अन्त भी सत्य में ही होता है। ये दिव्य दृष्टिसम्पन्न सन्त सब कुछ के आदि को जानते हैं और अन्त को भी। ये दूरातिदूर रहने वाले अन्त को जिस प्रकार देखते है, उसी प्रकार निकट से भी अति निकट रहने वाले सबके आरम्भ–स्थल को भी देखते हैं। साथ ही अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से आरम्भ और अन्त के मध्य में जो कुछ भी चतुर्मुखी विस्तृत दूरी है, उसे भी देखते हैं।

आज के भौतिक विज्ञानवेत्ता को अपनी जानकारी का गर्व होता होगा कि पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों की दूरी को विज्ञान बल से बता देते हैं परन्तु हमारे सन्त सद्गुरु बिना किसी यन्त्र के ही आसन पर बैठे–बैठे कुछ आँखों की दृष्टि बदल कर लोक–लोकान्तरों का दर्शन करते थे। आँख बन्द करके शरीर एकासन में स्थित रहता था परन्तु ये योगिवर लोकान्तरों की सैर कर आते थे। इसका कुछ वर्णन इन सन्त के मुख से निकले हुए पदों में मिलता है। आज का वैज्ञानिक जो कुछ देखता है, उसी का वर्णन कर पाता है लेकिन हमारे पूर्वकालीन सन्त महात्माओं ने पृथ्वी के उस भाग की नाम भी बता दी है, जो किसी प्रकार दीखती नहीं है; हिमालय की उस लम्बाई चौड़ाई को बता दिया है जो पृथ्वी में धंसा हुआ है। युगान्तरों में होने वाली भविष्य की घटनाओं का वर्णन हजारों लाखों वर्ष पूर्व लिखकर गए हैं। हमारे सन्त महात्मा सर्वोपरि दूरदर्शी, सत्यदर्शी, तत्वदर्शी हैं।

सन्त–जीवन संसार में भगवान् की दिव्य विभूति है। सन्त का जीवन बुद्धि, ज्ञान और अनुभव से संचालित होता है, इन्द्रियों से नहीं। वह अपने लिये स्वयं ही शास्त्र हैं क्योंकि उसने अहंता ममता का त्याग कर दिया है, शास्त्रीय नियन्त्रण के लिये सन्त में कुछ रह ही नहीं जाता है।

अज्ञानी अदूरदर्शी के द्वारा प्रत्येक कर्म संकुचत या सम्वर्धित अहंभावपूर्वक होते हैं। इस प्रकार के कर्मों से ही कर्त्ता फलभोग के लिए बद्ध रहा करता है। इसके विपरीत दूरदर्शी सत्यदर्शी सन्त के समस्त कर्म विश्वरूप भगवान् के लिए होते हैं। सत्यदर्शी ही जानता है कि प्रकृति की सारी प्रभुता, सारा कर्म, समस्त फल एकमात्र भगवान् के लिए ही है, भगवान् ही सबके उद्गम हैं; भगवान की ओर ही सब कुछ की गति है परन्तु जब तक जीव अदूरदर्शी है, सीमित अहंभाव के अधीन है तब तक इस सत्य का अनुभव नहीं कर पाता, न वह इस सद्भाव से भगवान् के लिए भगवान् का होकर कर्म ही कर सकता है।

मन्द दृष्टि वाले जीव के सभी कर्म अहंकार की तुष्टि के लिए होते हैं। यह अहंकार बन्धन की सीमा है, भगवद् प्रीत्यर्थ कर्म करने पर ही कोई इस सीमा को मिटा सकता है और अन्त में मुक्त हो सकता है।

सन्त सद्गुरु की दूरदर्शी दृष्टि प्राप्त करने के लिए हमें बुद्धि को ऊर्ध्वमुख और अन्तर्मुख करना होगां जब तक हमारी बुद्धि बहिर्मुख होकर अधोमुखी बनी रहेगी तब तक असत् के बन्धन से, मोह से मुक्त नहीं हो सकते, इन्द्रियों तथा मन के संयम से ही बुद्धि अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी हो सकती है। अन्तःस्थ निर्विषय आत्मानन्द ही हमारा सच्चा लक्ष्य है। इसी को देखना दूरदर्शिता है। सन्त–सद्गुरु हमें उसी ओर ले चलने का प्रयास करते आ रहे हैं।

सन्त और योग सिद्धियाँ

योगी के जीवन का रहस्य कोई योगी होकर ही समझ सकता है अथवा उसे ही कुछ आभास हो सकता है, जिसे योगी स्वयं अपनी कृपा से करा दे। यों तो स्वामी जी के दर्शन लाखों नर, नारी, वृद्ध, बालक सभी ने किये और इनके विषय में उन्होंने यह धारणा भी कर ली कि अच्छे सिद्ध महापुरुष हैं परन्तु जिन बातों को देख–सुनकर सर्वसाधारण मानव समाज ने स्वामी जी को सिद्ध पुरुष माना, यह कोई स्वामी जी की महत्ता का वास्तविक परिचय नहीं है। योगी महापुरुष इस संसार में अदृश्य गतिविधि से बहुत बड़े–बड़े काम करते हैं। प्राणिमात्र के कल्याणार्थ व्यष्टि और समष्टि के विकास में जो कुछ भी आवश्यक है, उसकी प्रेरणा इन योगी महापुरुषों के द्वारा ही हुआ करती है। जिस भयानक दृश्य को देखकर मानव कभी कट्टर आस्तिक और कभी कट्टर नास्तिक हो जाता है, वह हृदय विदारक संहार की क्रिया इन्हीं सन्तों के संकेतों पर नव सृजन के लिये हुआ करती है।

एक बार परमहंस जी ने बताया था कि इस भूतल में सृष्टि की रक्षा तथा उसके संचालन के लिए हम लोग बारह योगी नियुक्त हैं। हमारे अतिरिक्त और सब योगी गुप्त रूप से रहते और काम करते हैं।

भिन्न–भिन्न प्रदेशों में योगी पुरुषों का उपस्थित रहना बहुत ही शुभ है और किसी योगी का तिरोधान होना बहुत ही अशुभ है। जनसमूह के प्रबल पुण्यों के फलस्वरूप योगी पुरुष प्रकट होते हैं और पुनः जनसमूह के प्रबल पातकों के फलस्वरूप योगिजन इस भूमि से ऊपर उठ जाते हैं।

एक–एक प्रदेश की तथा प्रत्येक प्रान्त के धर्मपरायण जीवों की रक्षा ये योगीजन ही अदृश्य रूप से किया करते हैं। मैंने अनुभव किया कि श्री स्वामी जी के महाप्रयाण–काल में पाँच–सात वर्ष पहिले से ही भारतवर्ष के कई सदस्य महात्माओं ने भौतिक शरीर का त्याग किया था। अन्त में स्वामी जी ने भी अपने महाप्रयाण के द्वारा भविष्य के संकटमय होने की सूचना दी और वह सब हम सब लोगों के सामने आता जा रहा है। संसार के संरक्षक योगियों में जब कोई इस संसार को छोड़कर चला जाता है तभी प्रकृति में उलट–फेर, भयानक उत्पात, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, रोगों का प्रकोप, महायुद्ध आदि घटनाएँ घटती हैं। संसार त्रस्त हो जाता है। इस बात को योगी महापुरुष के शिष्य ही जानते हैं। जिनका योगी महान् पुरुषों से सम्बन्ध नहीं है वे इस रहस्य को कैसे समझ सकते हैं?

योगी की शक्ति मानवी बुद्धि के लिए तो अपरिमित ही है। इतनी बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि सब योगियों में प्रायः एक ही प्रकार का सामर्थ्य नहीं पाया जाता।

यौगिक चमत्कारों से योगी की शक्ति नहीं नापी जा सकती क्योंकि किसी योगी में कहीं—कहीं चमत्कार दीखते हैं और किसी में नहीं दीखते। ''संचित शक्ति का अलौकिक रूप में प्रयोग करना ही चमत्कार है।'' जैसे किसी महात्मा ने निष्प्राण शरीर में पुनः प्राणों का संचार कर दिया। वह मर कर पुनः जीवित हो गया, किसी ने अन्न के खाली पात्र से सैकड़ों व्यक्तियों को भोजन करा दिया, किसी ने जल को घृत बना दिया, पानी को सुरा में परिणत कर दिया, कोई प्रगट दीखते हुए गुप्त हो गया अथवा सैकड़ों मील की दूरी पर उसी क्षण में प्रकट हो गया इत्यादि अनेक प्रकार के चमत्कार योगी में देखे जाते हैं और कहीं—कहीं किंचित् भी नहीं देखे जाते।

यह ध्यान रखने की बात है कि किसी प्रकार के चमत्कार से योग की महत्ता को नापना—तौलना भ्रमित होना है। यह तो सत्य है कि योगी दिव्यशक्ति से सम्पन्न होता है किन्तु यदि कोई दिव्यशक्ति का अज्ञानवश साधारण बातों के लिए उपयोग करने लगे तो वह शक्ति से वंचित हो जायगा।

यहाँ पर 'योग' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार साधारण व्यक्ति तप, त्याग, ज्ञान का संकुचित रूप देखकर भ्रान्त रहते हैं, उसी प्रकार योग का भी बहुत लोगों ने कुछ इधर—उधर से पढ़कर या सुनकर संकुचित रूप कल्पित कर रखा है। शास्त्रों में भी योग अनेक नामों से वर्णित है, जिसे हम सब लोग— कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, मंत्रयोग,

राजयोग और कहीं पर अष्टांगयोग, ध्यानयोग, ऐश्वर्ययोग, प्रेमयोग, विरहयोग आदि नामों से पढ़ते सुनते हैं।

कुछ भी नाम हो परन्तु योग का तात्पर्य दुःखों की आत्यातिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही है। दुःख के संयोग से जो रहित है, उसी की 'योग' संज्ञा है। उसकी सिद्धि ही अनेकानेक साधनों का लक्ष्य है। वास्तव में मन–वाणी एवं शरीर को संयत करने वाला धर्म–व्यापार ही योग है।

कर्म करने की वह रीति, जिसमें कर्मों के फल कर्त्ता को बन्धन में न बाँध सकें, योग है।

जिस स्थिति में सारी इन्द्रियाँ निर्विषय हो जायें वही योग अथवा दृश्य–जगत् से वृत्तियों के संयोग का वियोग करके आत्म–स्वरूप में चित्त को स्थिर करना योग है अथवा कार्य में कारण में अखंड रूप से सर्वत्र अनुभव करना ही योग है– जैसे आभूषण–रूप कार्य में कारण–रूप सोने को देखा जाता है।

कहाँ तक स्पष्ट किया जाय– चित्त को चिन्मय करने के साधन का नाम ही योग है।

इस प्रकार योग की अनेक परिभाषाओं के अनुसार जब हम योगीराज नागा बाबा जी महाराज की स्थिति को देखते हैं तब वे सभी परिभाषायें उन पर घटित हो जाती हैं। श्री सद्गुरु परमहंस जी की चित्तवृत्तियाँ पूर्ण निरुद्ध थीं। इनका मन अचंचल था, बुद्धि समस्थिर

थी, तभी तो ये नित्य परमात्मा में ही निवास करते थे। इनके नेत्र जब खुले रहते थे तब अपलक दृष्टि से सन्मुख देखते रहने पर भी, इनकी वृत्ति अन्तर्मुखी रहकर इस प्रकार समाहित रहती थी कि अपने आस–पास से आने–जाने वाले व्यक्ति का प्रायः ज्ञान ही न होता था। शरीर, वाणी, मन पर तो पूर्ण संयम था ही, इनकी इन्द्रियों का व्यापार भी निर्विषय था। ये इस दृश्य जगत्–रूप कार्य के पीछे कारण रूप अखंड चित् सत्ता का ही निरन्तर निजात्मा रूप में अनुभव करते हुए प्रशान्त रहते थे। श्री स्वामी जी में ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की इतनी सहज दृढ़ता देखी गई कि बालकों के साथ खेलते हुए भौतिक रूप के भेद का ज्ञान उन्हें विस्मृत–सा हो जाता था। खेल–कूद की हलचल में अंग–प्रत्यंगों की अगणित क्रियाओं के पीछे नित्य एकरस चिन्मात्र तत्व में ही डूबे हुए से दिखाई देते थे। सारांश– इनका चित्तःचिद्र रूप हो गया था कि और सब प्राणियों का चित्त जड़ रूप में रहा करता है। इनका जीवन संसार में संसार के लिये ही थां ये अपने लिये संसार से कुछ न चाहते थे। ये पूर्ण निष्काम थे, क्योंकि इनमें किसी वासना की स्फुरण ही न होती थी। इस प्रकार का अनुभव इ नकी निकटता में ही हुए कि वासना से मुक्त होने पर ही कोई निष्काम होता है और निष्काम होने पर ही कोई पूर्ण योगी होता है, जैसे कि परमहंस जी थे।

संसार के सहस्त्रों प्राणियों ने निकट होकर या दूर रहकर परमहंस जी महाराज की महती कृपा, दया करुणा का; उनकी

दानशीलता, गम्भीरता, धीरता एवं कष्ट–सहिष्णुता का प्रभाव जहाँ पर जैसा उचित था, वैसा ही देखा और लाभ उठाया। परमहंस जी ने परोपकारार्थ अपने को तपा–तपा कर निष्काम प्रेम एवं सद्गुणों को व्यवहार में चरितार्थ किया है। आज का स्वार्थान्ध मानव भले ही न समझे किन्तु स्वामीजी ने अपनी अहैतुकी दया, कृपा एवं करुणा आदि सद्गुणों द्वारा यही शिक्षा दी है कि इसी प्रकार हम सबको दूसरों के प्रति निष्काम प्रीतिपूर्वक दया क्षमा का भाव रखते हुए सेवा करनी चाहिए, सबके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए, यथाशक्ति दान देते रहना चाहिएं इसके विरुद्ध जो सन्त सद्गुरु की इस प्रीति, रीति तथा नीति के विरुद्ध दूसरों को सताने रुलाने वाले हैं, स्वार्थी कठोर कृपण स्वभाव वाले हैं, वे कर्तव्य धर्म से विमुख हैं और पाप के पथ में हैं, सच्चे श्रद्धालु शिष्य सत्संग–प्रेमी एवं सन्त सेवा भक्त को चाहिए कि सन्त सद्गुरु की समीपता में जिन सद्गुणों से जिस पवित्र ज्ञान से उसे सन्तोष शान्ति एवं सहायता मिली है, उसी सम्पत्ति को अपने जीवन में प्राप्त करे अर्थात् स्वयं संयमी सत्कर्तव्यपरायण होकर दयालु, दानी, तपस्वी, त्यागी तथा ज्ञानी और भगवत्प्रेमी बने। यही गुरुदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति का दिव्य फल है।

श्री सन्त सद्गुणस्वरूप गुरुता को जो शिष्य धारण करेगा, वही सच्चा शिष्य है और जो सद्गुरु के त्याग को, ज्ञान को, प्रेम को अपने जीवन में चरितार्थ करेगा, वही सच्चा गुरुभक्त हैं। ऐसे योगवेक्षा, जिन्हें भगवान ने सर्वोत्तम माना है सब नियमों और बन्धनों से मुक्त हैं। वे

कभी किसी से बहुत बोलते हैं और कभी किसी के बहुत छेड़ने पर भी कुछ नहीं बोलते। कभी तो वे जन–समुदाय से बहुत दूर रहते हैं और कभी वे किसी गृहस्थ के घर में भी पड़े रह सकते हैं। वे चारों आश्रमों से अलग पंचाश्रमी या अत्याश्रमी पुरुष हैं। वे नित्य सत्स्वरूप में अवस्थित रहते हुए तथा ज्ञान–ज्योति को अपने हृदय में दैदीप्यमान अनुभव करते हुए वहीं से प्राप्त अमोघ दैवी शक्ति के प्रचंड और अखंड प्रभाव–द्वारा जगत् के कल्याणकारी होते हैं।

ये महात्मा सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते किन्तु गुप्त रूप से इनके साथ रहने वाली सिद्धियों, शक्तियों से संसार का महत्कार्य पूर्ण होता रहता है, जिसे साधारण मानव–समाज देख भी नहीं पाता। ये लोक–लोकान्तरों कों ध्यान–द्वारा देखते हैं। ये पूर्ण योगी योगनिन्दा में सदा जागते रहकर सोते हुए जगत् की रक्षा एवं सुधार करते हैं।

ये सन्त परम स्वतंत्र होते हैं और अपने ही दृष्टान्त से सबको यह बताते रहते हैं कि जीव कितना बड़ा अधिकार एवं पद प्राप्त कर सकता है। भगवान् की महती कृपा–द्वारा सुलभ शक्ति के सदुपयोग से जीव किस प्रकार लघु से महान् हो सकता है– सन्त सत्पुरुष सबको यही उपदेश देते हैं।

हम सब लोगों को गम्भीर बुद्धिपूर्वक सन्त महापुरुषों के महान् चरित्र से यही शिक्षा लेनी चाहिए और सांसारिक परिस्थितियों के बन्धन से विवेकपूर्ण ऊपर उठना चाहिए। जगत् के सारे तत्व जिनके

वश में होते हैं, जो अक्षर अव्यय तत्व के परमज्ञाता हैं, जिनकी इच्छाशक्ति अजेय होती है, जिनकी ज्ञानदृष्टि त्रिगुणा प्रकृति पार देखती है, जो प्रशस्त गम्भीर निर्भय, पूर्णतृप्त परम विरक्त हैं, जिनकी बुद्धि प्रमादर हित और शुद्ध होती है, जो अन्तःकरण साम्राज्य के स्वामी होते हुए अनिकेत अमानी हैं, जो मुक्त आनन्दरूप प्राणिमात्र के हितैषी एवं सबके सुहृद् हैं– ऐसे महान् पुरुषों का असाधारण तेज और ऐश्वर्य वैभव देखकर किसके हृदय में धीरज न बँधेगा तथा कौन शरण में आकर शान्ति–प्राप्ति की आशा न करेगा।

इनके दर्शन से किसका हृदय हर्षोल्लसित होकर पूज्यता के भावों से प्रगाढ़ श्रद्धापूर्वक गद्गद् न होगा! इनके सम्मुख कृतज्ञ होकर निश्छल भाव से कौन अपने को समर्पित न कर देगा! इनके संग से इनकी महत्ता को देख और उस महत्ता की प्राप्ति के लिये अपने को ईश्वर–कृपा का अधिकारी सुनकर किसके हृदय में उसकी सिद्धि की अभीप्सा प्रबल न होगी! परन्तु महापुरुष का दर्शन, सुसंग, सुयोग प्राप्त होना किसी जीव के विशेष पुण्य तो ऐसे हैं, जो अपनी विद्या के अभिमान में सन्त महापुरुषों की योग्य विभूति को दम्भ एवं पाखंड कहकर बिना सोचे–समझे ही उसकी अवहेलना किया करते हैं।

बहुत पुरुष ऐसे भी हैं, जो अपनी कामना–पूर्ति की आशा लेकर निर्विचार श्रद्धा के द्वारा किसी साधु–सन्त वेष को देखकर ही सिद्ध महापुरुष होने का विश्वास कर लेते हैं। ये श्रद्धाहीन बुद्धिवादी अथवा

बुद्धिहीन श्रद्धालु– दोनों ही सच्चे संतों को परख नहीं पाते। आजकल ऐसे वेषधारी कुयोगियों की भी कमी नहीं है, जो विवेकहीन साधारण मनुष्यों के सामने अपने को सिद्ध–महात्मा बनाकर विभूति बाँटते हैं, कोई आशीर्वाद देते हैं, कोई भक्तों की कार्य–सिद्धि के लिये पूजा–पाठ, ध्यानादि द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करने का ठेका लेते हैं। ऐसे लोगों ने यदि दस धनी–मानी लोगों को आशीर्वाद दिया और उनमें से भाग्यवश यदि दो–तीन व्यक्तियों को भी सफलता प्राप्त हो गई जैसी कि प्रायः लोगों को मिलती ही है तब तो ऐसे लोगों की सिद्धि भली प्रकार प्रमाणित हो जाती है। अधिकांश यही देखा जा रहा है कि अन्धविश्वासी व्यक्ति बहुत साधारण बातों को लेकर किसी सन्त महात्मा को तौलने–नापने लगते हैं और साधारण वेषधारी लोगों को प्रायः 'सिद्ध' का पद प्रदान करते हैं; किन्तु सच्चे वीतराग तत्वज्ञानी सन्तों को समझ ही नहीं पाते, जब तक सन्त स्वयं समझाने की कृपा न करें। व्यवहारिक लाभ की आशा से यदि कोई सन्त–महात्मा के प्रति श्रद्धा एवं सेवा करेगा तो वह सन्त पद को नहीं देख सकता।

सन्त महापुरुष जीवों के उद्धार के लिये अथवा जगत् कल्याण के लिये कैसे क्या करते हैं, इसका पूरा पता प्रायः किसी को नहीं मिलता क्योंकि सन्त महापुरुषों को इसका बखान तो करना नहीं है। यदि उनके विषय में कोई भ्रमात्मक धारणा कल्पित करता है तो भी उन्हें कुछ आपत्ति नहीं होती। योगी महापुरुषों की उपस्थिति मात्र से मानव–समाज का हित होता है। यद्यपि सामान्य मनुष्य सत्पुरुषों की

शक्ति–प्रेरणा से अपरिचित ही रहते हैं तथापि जानने वाले श्रद्धालु स्वानुभव से जान ही जाते हैं। बुद्धिमान सभ्य पुरुषों का तो यही कर्त्तव्य है कि ऐसे विरक्त योगी महापुरुषों की निश्छल सेवा करके उन्हें प्रसन्न करते रहें। कोई भी मनुष्य अपना लाभ या हित नहीं जानता, जितना सन्त महात्मा मनुष्य के हित की बात समझते हैं और तदनुसार ही वे सब कुछ करते हैं। मनुष्य की दृष्टि में कभी–कभी जो कुछ प्रतिकूल प्रतीत होता है, वही सन्त की दृष्टि से हितप्रद सिद्ध होता है। श्रद्धालु भक्त को तो सन्त की प्रसन्नता को ही सर्वोपरि लाभ एवं निधि समझना चाहिए। सन्तो की, बड़ों के आशीर्वाद की शक्ति का सूक्ष्म प्रभाव कितना महान् होता है, यह बालक ही नहीं समझते। सन्तों के आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है, संसार में वही मनुष्य वास्तविक पुण्यवान हैं। वे एक दिन अवश्य सन्त पद प्राप्त करेंगे।

आज के कुसंग–प्रभाव से भले ही कुछ लोग योगिराज सन्त महापुरुषों की अलौकिक शक्तियों पर विश्वास न करें परन्तु जिन्होंने निरपेक्ष भाव से भारतीय और विदेशी ग्रन्थों का अध्ययन किया है, वे सन्त महापुरुषों के जीवन –चरित्रों में आने वाली विभूतियों एवं अलौकिक घटनाओं से अपरिचित न होंगे। प्राचीनकाल से लेकर मध्ययुग एवं वर्तमान समय में भी विभूति सम्पन्न योगियों तथा भक्तों के अनेक दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। भगवान श्रीकृष्ण, शुकदेवजी, अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि की बातें हमें दुहराने की आवश्यकता नहीं है

क्योंकि अपने धर्मग्रन्थों में इन महान् विभूतियों के योगेश्वर्य का वर्णन युगों से होता आ रहा है। हम सब के लिये तो कुछ समय पूर्व के ही ऐसे प्रमाण बहुत हैं, जिनकी जीवन–चरितावली में अलौकिक घटनाओं का वर्णन पढ़ने सुनने को मिलता है।

सर्व श्रीबुद्धदेव, शंकराचार्य, कबीरदास, गुरु नानक, तुलसीदास, पलटू साहब, दरिया साहब, जगजीवन, चैतन्य महाप्रभु, पार्श्वनाथ, महावीर, समन्त भद्र, नागार्जुन, तैलंग स्वामी, रामदास प्रभृति अनेक सन्त भक्त, योगी महापुरुष भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो चुके हैं। इसी प्रकार से ईसा, मूसा, शम्स्तवरेज आदि अन्य देशवासी सन्त महापुरुषों को कौन नहीं जानता? इनके योगेश्वर्य का वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

जिनके अन्तःकरण में अपने लिए कोई इच्छा नहीं रह गई है तथा जो संकल्प शून्य हैं, उनमें कदाचित् कोई संकल्प उत्पन्न भी होगा तो उसकी पूर्ति तत्क्षण होनी चाहिए। वे अपनी अपरिमेय शक्ति के द्वारा जो मानवी बुद्धि के लिए असंभव प्रतीत होता है, वही प्रत्यक्ष करके दिखा सकते हैं। योगिराज श्रीचन्द्र जी महाराज ने तो उन दिनों जब काश्मीर का शासक याकूब था और उसके द्वारा वहाँ के ब्राह्मण–समाज पर अत्याचारों की वर्षा हो रही थी, उसे प्रभावित करने के लिए उसके मन्त्री के सामने धूनी से जलती लकड़ी निकाल कर भूमि में गाड़ दी और उस यवन मन्त्री के देखते–देखते वह लकड़ी सुन्दर हराभरा वृक्ष हो गई। वही वृक्ष आज तक श्रीनगर के प्रतापबाग

में श्रीचन्द्र चुनार नाम से प्रसिद्ध है, श्रीनगर की जनता आज भी उस वृक्ष को पूजती है। योगिराज श्रीचन्द्र जी के जीवन में अनेक अद्भुत चमत्कार पढ़ने को मिलते हैं।

अपने धर्मग्रन्थों में त्रिशंकु और विश्वामित्र की कथा है। विश्वामित्र ने अपने योगबल से त्रिशंकु को स्वर्ग भेजा परन्तु जब वह वहाँ से नीचे ढकेला गया तब इन्होंने उसे 'तिष्ठ तिष्ठ' कहकर अधर में ही रोक दिया। तब से वह त्रिशंकु वहीं रुका हुआ है। इसी प्रकार सन्त फ्रांसिस ने भी गिरते हुए पहाड़ के शिलाखंड को बीच में रोक दिया था।

श्री शंकराचार्य जी महाराज ने भी एक बार बढ़ती हुई नदी की धारा को दूसरी दिशा में बदल दिया था। श्री सन्त ज्ञानेश्वर जी महाराज ने चांगदेव जी को शेर पर चढ़कर काले नाग का चाबुक लिए अपनी ओर मिलने के लिए आते देखकर उनके स्वागत के लिए उस दीवार को कुछ दूर तक चलने की आज्ञा दी, जिस पर कि वे स्वयं बैठे थे और उनकी आज्ञा से वह दीवार चेतन की तरह चलने लगी। इस प्रकार की घटनाएँ जब अनेक महापुरुषों के चरित्र में पढ़ने–सुनने को मिलती हैं तब अनेक महात्माओं की भिन्न–भिन्न योगेश्वर्य की क्रियाएँ सुनकर पाठकों को कहीं भी इस बात का संदेह न रह जाना चाहिए कि श्री परमहंस नागा निरंकारी जी महाराज की दी हुई विभूति से रोग कैसे दूर हो जाते थे? कूप का खारा पानी कैसे मीठा हो जाता था? वे दूर से भक्तों की भावना को किस प्रकार गुप्त

रूप से ही पूर्ण कर दिया करते थे? हम लोग आज इनकी अपरिमित शक्ति को भले ही न समझ सकें परन्तु यह सत्य ही ह ै कि योगी महापुरुष में अलौकिक कार्य करने की विचित्र कला होती है। जिसका जितना ही अधिक संयमी और जितेन्द्रिय जीवन होता है, उसमें उतनी ही अधिक शक्ति संचित रहती है। उसी शक्ति के आगे जब कभी कोई संकल्प उत्पन्न हो जाता है, तब वह तत्काल पूर्ण होता है। अवश्य ही संकल्प की सिद्धि में योगी की शक्ति का ह्रास भी विकास के लिये ही होता है। उस क्षति की पूर्ति अनन्त के शक्ति भंडार से होती रहती है।

वास्तव में अटल विश्वास, दृढ़ इच्छाशक्ति और उत्कृष्ट तप के द्वारा अनेक असाध्य व्यापार भी सुसाध्य एवं सुसिद्ध होते रहते हैं।

संचित शक्ति–द्वारा संसार में क्या–क्या हो सकना संभव है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार भूलोक के स्थूल पदार्थों को लेकर मनुष्य स्वेच्छानुसार नाना प्रकार के गृहादिकों की रचना कर लेता है, उसी प्रकार शक्तिमान योगी अपने सुदृढ़ संकल्प के बल से भुवलोक के द्रव्यों से किसी भी जड़वस्तु को अनुप्राणित कर सकता है। इसी शक्ति के कारण महात्माओं में नाना प्रकार के चमत्कार देखे सुने जाते हैं।

जब योगी का अधिकार मनोलोक के द्रव्यों पर हो जाता है तब वह अपने संकल्प से किसी भी पशु जीव में मनुष्य की भाँति भावना, विचार तथा भाषा आदि की क्रिया दिखा सकता है। इसी प्रकार जब

विज्ञानमय लोक के द्रव्यों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है तब योगीजन मानवी बुद्धि के जड़त्व को क्षण मात्र में चिन्मयत्व में परिणत कर सकते हैं। आत्मा के लोक में प्रभुत्व प्राप्त होने पर किसी भी मृतक जीव को जीवित कर देने की शक्ति योगी में आ जाती है। श्री गोरखनाथ आदि के जीवन–चरित्र में ऐसी घटनायें पढ़ने को मिलती हैं।

श्री स्वामी जी ने अपनी महत् शक्ति का समयानुसार दुखियों, संकटग्रस्तों की सहायता में ही उपयोग किया है। ये व्यष्टि के तथा समष्टि के अथवा एक परिवार से लेकर समस्त देश एवं विश्व के भविष्य को स्पष्ट जानते थे। देश की स्वाधीनता का परिणाम, प्रधान नेताओं की अन्तिम गतिविधि का दिग्दर्शन जैसा कुछ बताया था, वही आज हम लोग देख रहे हैं और बहुत कुछ आगे देखना शेष रह गया है। उसे स्पष्ट करना उचित नहीं प्रतीत होता।

एक बार ये सन्त बदरीनारायण की यात्रा करने जा रहे थे, दो मूर्ति और कोई भी साथ थीं। ऋषिकेश के आगे लक्षमण झूला के ऊपर चलते हुए ये बीच गंगा जी में कूद पड़े, उस स्थान में जल बहुत गहरा है। साथ वालों ने समझा स्नान के निमित्त कूदे हैं; किन्तु बहुत देर प्रतीक्षा करने पर भी जब इनका पता न चला तब तार–द्वारा इस दुर्घटना की सूचना कानपुर जिले एक भक्त को देकर वे साधु अपनी यात्रा को चले गये। कुछ दिन बाद ये सन्त जिला फतेहपुर मऊ नामक ग्राम में विचरते खेलते मिले।

सन्तों की सिद्धियों का सामर्थ्य विलक्षण होता है। सिद्धियों के आठ भेद शास्त्र में बताए गए हैं। अणिमा, महिमा, लधिमा, प्राप्ति, प्राकम्य, ईशित्व, वशित्व और ख्याति ये योग की आठ सिद्धयाँ हैं। इनमें अणिमा, महिमा और लधिमा ये तीन सिद्धियाँ देह से सम्बन्ध रखती हैं। 'अणिमा' देह को अणु समान छोटा बना लेना, 'महिमा' अधिकाधिक भारी बना लेना, 'लधिमा' कपास के समान हल्का बना लेना। 'प्राप्ति' इन्द्रियों की महा–सिद्धि है। 'प्राकम्य' परलोक–सम्बन्धी विषयों का परिज्ञान। 'ईशित्व या इशिता' माया और उसके अंशवाली शक्तियों की प्रेरिता सिद्धि है। 'वशित्व या वशिता' कर्मों में अलिप्त रहने और विषय भोगों में आसक्त न होने की सामर्थ्य देने वाली सिद्धि है। 'ख्याति' त्रिभुवन के भोग और वांछित सुखों को दिलाने वाली सिद्धि है।

इनके अतिरिक्त दस सिद्धियाँ और भी होती हैं। जैसे– 1 'अनूर्भि अर्थात् क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जस, मृत्यु इन षडूर्मियों से देह का बेलाग रहना। 2 'दूर–श्रवण सिद्धि' अर्थात् अपने स्थान से दूर की बात सुन लेना (इस समय यह सिद्धि रेडियो के द्वारा प्रायः सभी को प्राप्त है) योगी में श्रवण शक्ति के बढ़ जाने पर यह सिद्धि होती है। 'दूरदर्शन' अर्थात् एक स्थान से बैठे–बैठे संसार के दृश्य देखने की शक्ति। 4 'मनाजव' अर्थात मनोवेग से चाहे जिस स्थान पर पहुँच सकने की शक्ति। 'पूर्णकामरूप' अर्थात् चाहे जो रूप धारण कर लेना। 6 'परकायाप्रवेश' दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाना और अपना शरीर

छोड़ देना। 7 'स्वच्छंदभरण'– स्वेच्छा से जब चाहें तब अपना शरीर त्यागना। 8 'देवक्रीड़ा–नुदर्शन'– स्वर्ग में देवताओं की क्रीड़ा देख लेने की शक्ति। 'यथा संकल्प संसिद्धि'– अर्थात् संकल्पित वस्तु का तुरन्त प्राप्त होना। 10 'अप्रतिहतगति और आज्ञा'– अर्थात् वह सिद्धि जिसके प्रभाव से सिद्ध की गति एवं आज्ञा का कहीं भी अवरोध न हो।

इन सिद्धियों के अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ और भी हैं। 1 त्रिकालज्ञता, 2 अद्वन्द्वता, 3 परिचित्ताभिज्ञता (दूसरे के मन का हाल जान लेना), 4 प्रतिष्ठम्भ अर्थात् अग्नि–जलादि तत्वों का असर न होना, 5 अपराजय अर्थात अजेय होना, सब पर विजय लाभ करना। भगवान तो कहते हैं–

"जितेन्द्रियस्थ दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारतयः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा।।"

'जिसने पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों को शम–दम के द्वारा जीत लिया है तथा प्रखर वैराग्य–द्वारा जो प्राण–अपान को अपने वश में कर चुका है एवं विवेक बल से जिसने अपने चित्त को सावधान बना लिया है और मेरे निरन्तर चिन्तन से जिसने मनोविजय प्राप्त किया है, उसके लिए कौन सी सिद्धि दुर्लभ है?' किन्तु सर्वोपरि सिद्धि तो परमानन्द की प्राप्ति है।

सभी धर्मशास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों में मुक्ति प्रदान करने वाले दो मार्गों का वर्णन मिलता है। एक का नाम है 'पिपिलका मार्ग' और

दूसरा है 'विहंगम मार्ग'। पिपिलका मार्ग का योगी यम, नियम, आसन, प्राणायामि अष्टांग योग के द्वारा शक्ति प्राप्त कर कभी ऊपर चढ़ता है तो कभी भोगों में शक्ति का उपयोग कर नीचे उतरता है। इस प्रकार कितने ही जन्मों में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके पूर्ण त्यागी एवं परमात्मानुरागी होकर मुक्ति लाभ करता है।

विहंगम मार्ग का योगी भक्तिरस में अपने को डुबोकर ज्ञान योग समाधि द्वारा चंचल मन को शान्त कर इन्द्रिय निरोध पूर्वक कामना वासनाओं का त्याग एवं सर्वसंगातीत होकर अपने हृदय कमल में सनातन सत्य की चिन्मय ज्योति का दर्शन कर देव–दुर्लभ मोक्ष प्राप्त करता है। विहंगम मार्ग शीघ्र मुक्ति–प्रद सीधा पथ और पिपिलका मार्ग जन्मान्तरों के चक्कर से क्रमशः ले जाने वाला मुक्तिप्रद मार्ग है।

राजर्षि जनक, महर्षि भृगु, योगिराज याज्ञवल्क्य आदि महात्मा पिपिलिका मार्ग से परम पद को प्राप्त हुए और बाल विरागी महात्यागी श्री शुकदेवजी, सनक सनन्दन, सनत्कुमारद आदि ने विहंगम मार्ग से मुक्ति जीवन का आनन्द लाभ किया। हमारे परमहंस श्री नागा जी महाराज भी विहंगम मार्ग के अनुयायी थे। इनमें भक्ति और ज्ञान की अद्भुत पूर्णता थी। अपने को परमात्मा से कभी भिन्न न देखना, सर्वत्र उन्हीं में अपने को अनुभव करना, यही परमहंस जी की भक्ति है। संसार के सभी प्राणी परमात्मा के ही जीवात्मा हैं, सभी के प्रति दया करना, प्रेम करना, दया–प्रेमपूर्वक ही सबके साथ व्यवहार करना यही उनका ज्ञान है। वे शास्त्र हैं। वेद–श्रुति स्मृति–पठन को

तथा उनके शब्दज्ञान पांडित्य को ज्ञान नहीं मानते थे और न कभी कुछ सुनते ही थे किन्तु यदि किसी के तप की चर्चा होती तो उसे वे बहुत प्रेम से सुनते थे। प्रायः रामायण की सती–चरित्र को ही पढ़वाकर सुना करते और श्री सती जी के तप का अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक मनन करते थे। विश्वाकार में ब्रह्म के विराट् स्वरूप की उपासना, उसी का निरन्तर ध्यान–यही उनका सहज योग है। इनकी अन्तर्लोकों के दिव्य दर्शन की दृष्टि खुली हुई थी। पुराण एवं वेदों में वर्णित ज्योतिर्लिंग को श्री परमहंस जी एक खम्भे के आकार का बतलाते थे। उसी की ओट में परमात्मा सब जीवों को देख रहा है। यही उनके तत्वदर्शन की भाषा थी। वे भगवान के सगुण विभूति रूप को ध्यान में स्वर्ण कमल के समान तथा श्वेत और श्यामवर्ण में दर्शन करते थे। अविद्योपहित चैतन्य को वे छोटी आत्मा एवं मायोपहित चैतन्य को बड़ी (महान) आत्मा कहकर परमात्मा का विचित्र ढंग से वर्णन करते थे। अपने शरीर रूप पिण्ड में ब्रह्माण्ड–व्याप्त शक्तियों का दर्शन करते थे।

श्री परमहंस जी के शरीर पर वर्तमान में प्रचलित किसी भी संप्रदाय का कोई भी विशेष चिन्ह न था। फिर श्री विसंगियों का विराग इनमें मूर्तिमान होकर झलकता था। संन्यासियों का ज्ञान दण्ड ये नित्य ही धारण किये रहते थे। उससियों की उदासीनता तो इनके योगमय जीवन की भूमि ही बन चुकी थी। ये उत आसीन अर्थात् उत्कृष्ट तत्व में स्थित रहने के कारण ही उदासीन कहे जाते थे

अथवा ये उत आसीन अर्थात् जल समान शीतल और सबके मल को धोने की शक्ति लिये हुये स्थित थे। ये माया में मिले हुए ब्रह्मतत्व को बिलगा कर देखते थे इसीलिये हंस थे और उसी से तन्मय–चित्त होने के कारण ये परमहंस थे। ये अपनी वाणी से श्री गुरु नानक देव तथा सन्त कबीर के भावों–विचारों का बहुत ही आदरपूर्वक समर्थन किया करते थे। साधकों की उपासना आराधना के लिये किसी एक ही मंत्र या नाम अथवा ए क ही रूप का पक्ष न लेकर साधक की श्रद्धानुसार नाम, मन्त्र या ध्यान का उपदेश देते थे। ये योगिराज सत्य ज्ञान से सत्य के ध्यान और प्रेम में पूर्ण सिद्ध थे।

सन्त संगातीत

संग होने पर ही 'मैं' का स्फुरण होता है। संगाभिमान की सीमा में ही 'मैं' नाम तथा रूप का आवरण धारण करता है। नाम–रूप का आवरण ही 'मैं' अर्थात् जीवात्मा का बन्धन है। नाम–रूप के संगाभिमान का त्याग ही मोक्ष है। नाम का जो रूप है, वही जगत् है और जिससे नाम–रूप प्रकाशित होते हैं, वही जगदाधार सत्य परमात्मा है। जगत् का जो संगी है, वही जगत् से बँधा है। जगत् के संगाभिमान से जो छूटा हुआ है, वही मुक्त है। श्री परमहंस जी नाम को, रूप को और नाम–रूप के अभिमानियों को साथ लेकर चलते हुए भी वास्तव में सर्व संगातीत हैं। इस दृश्य जगत् के असंख्य रूपों के पीछे ये जो कुछ देखते, दिगन्त व्यापी कोलाहल के बीच में ये जो कुछ सुनते हैं, यह कौन देख–सुन सका, यह बताना कठिन है।

जब बालकों के समुदाय में इनका शरीर खेलने–कूदने में व्यस्त दीखता था तब ये स्थिर शान्त समाधिस्थ रहते थे और जब इनका शरीर एकाकी शान्त स्थिर बैठा होता तब ये अदृश्य रूप से जीवों की प्रार्थनाओं एवं आवश्यकतानुसार उनके हित चिन्तन में संलग्न रहते थे। जब इनकी नेत्र, कान, रसना, नासिका आदि इन्द्रियाँ कार्य करती थीं तब ये सभी ऐन्द्रिय विषयों से पूर्ण विरक्त रहते थे तथा जब ये इन्द्रियों से पूर्ण मौन रहते थे तब दिव्य ध्वनि, दिव्य रूप एवं दिव्य गंधादि के रस का आस्वादन किया करते थे। कभी–कभी पूर्ण

निमीलित नेत्रों से शान्त बैठे हुए जब किसी विशेष आपत्तिजनक घटना को देखते तब उसी दशा में कुछ बोल पड़ते और उस शब्द को सुनकर निकटस्थ व्यक्ति जब उनके इस प्रकार बोलने का कारण पूछता था तब कुछ अदृश्य से होने वाली घटना का संकेत कर देते थे। अधिकतर वे ग्रामीणों एवं गरीबों में ही रहे उन गरीबों में भी जो धनी होते हुए दिल से गरीब थे।

जो पाठक सज्जन किसी विरक्त सन्त से संबंधित या जिन्हें सन्त–शास्त्र पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे ही सन्तों के चरित्र का रहस्य समझ सकते हैं। साधारण साधक की जब अन्तर्मुखी वृत्ति हो जाती है, वहीं से उसे कुछ अन्तरंग क्षेत्रों द्वारा अन्तर्जगत् के अनुभव होने लग जाते हैं। अन्तर्मुख होकर ही साधक ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है किन्तु साधारण व्यक्ति भौतिक भोगों में आसक्त होने के कारण बहिर्मुख होकर ही अधोगति देखता है। योगी भोतिक जगत् के सुखों से, भोगों से तथा व्यक्तियों से असंग रहता है।

इस प्रकार की असंगता के कारण ही योगी में उच्चतम शक्तियाँ सुलभ रहती हैं इसीलिये में दूर–दर्शन, दूर–श्रवण आदि बाते पाई जाती हैं। इसके विपरीत संगाभिमानी वस्तु की दासता में बद्ध रहता है इसलिये उसे असंग परमात्मतत्व का योगानुभव नहीं होता। सारांश, संग का त्याग ही योगानुभव में साधक है और संग के प्रति राग ही सत्यानुभव में बाधक है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति को अपना मानते रहना ही संग है। स्वीकृति ही संग का जीवन है और अस्वीकृति से

ही संग का खंडन होता है। जिस स्तर से स्वीकृति होती है, उसी स्तर से अस्वीकृति भी की जाती है। स्वीकृति या अस्वीकृति करने वाले स्तर से ऊपर उठकर ही परमार्थी को सत्य का योगानुभव होता है। श्री गुरुदेव जी सर्वसंग के त्यागी हैं। यद्यपि देखने में वे अपने समीपवर्तियों के प्रति कभी–कभी प्रपंचियों की तरह से ही बातें करते थे, किसी के दुःख में एक मोही जीव की भाँति आँसू बहाने लगते थे परन्तु यह सब कुछ आपकी दृष्टि में प्रकृति का स्वाभाविक व्यापार मात्र था। यदि उनसे कोई प्रश्न करता कि आपको अपने किसी भक्त से मोह है तो इसका वे जो कुछ उत्तर देते थे, उससे उनकी पूर्ण असंगता ही सिद्ध होती थी। श्री परमहंस जी संसार के सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखते थे। देखने में कभी–कभी भ्रम हो जाता था कि स्वामी जी अपने किसी–किसी भक्त या शिष्य को विशेष रूप से चाहते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा न था। सबको अपने–अपने भावानुसार ही सद्गुरुदेव की ओर से उत्तर मिला करता है। ये अपने को इतने खुले रूप में सबके लिये मुक्त किये हुए हैं कि जो कोई जितना चाहे, उन्हें अपने में ले लेते। ये स्वयं किसी को न हटाते हैं, न बुलाते हैं। इनका किसी के प्रति भी भेद–भाव नहीं। इनके चाहने वाले भक्त ही अपने प्रेम एवं त्याग के कारण अधिकाधिक इनके निकट होकर दैवी शान्ति एवं भक्ति से लाभ उठाते हैं और जिनमें त्याग–प्रेम की क मी है, वे अपेक्षाकृत इनकी शक्ति शान्ति से वंचित रहते हैं। श्री परमहंस जी से यदि कोई प्रश्न करता कि आपके अमुक भक्त या शिष्य कैसे हैं

तो ये उसे अपना भक्त या शिष्य स्वीकार ही न करते। यही कह देते कि सब परमेश्वर के जीव हैं, अपनी मौज से संसार में घूम रहे हैं।

ये दिव्यात्मा सन्त सद्गुरुदेव सबकी ममता एवं प्रीति का उत्तर सबकी भावनानुसार ही देते हैं परन्तु स्वयं किसी से ममता नहीं रखते। सन्त सदा परमात्मा में निवास करते हैं इसीलिये ये संसार की किसी भी वस्तु का आश्रय नहीं लेते, न ये किसी व्यक्ति पर निर्भर रहते हैं। इनका स्पर्श न तो स्तुति–वन्दनाएँ ही कर पाती हैं और न कटु शब्द–प्रहार ही स्पर्श कर पाते हैं। ये महान् सन्त आत्माएँ किसी के प्रभाव से विचलित नहीं होते। हम सबको इनकी असंगता से शिक्षा लेनी चाहिये। हम सब इसीलिए बन्धन–दुःख का अनुभव करते हैं क्योंकि संगाभिमान के त्याग से ही हमें शान्ति मिल सकती है और शक्ति भी सुलभ हो सकती है। श्री सन्त सद्गुरु की समीपता में पहुँचकर भी यदि हम संगाभिमान से मुक्त न हो सके तब तो फिर अन्य किसी के संग से असंग हो भी न सकेंगे। सन्त सद्गुरु का सत्संगी वही है, जो प्रपंच की संगासक्ति का त्याग कर परमार्थी बने और परमानन्द को प्राप्त करे।

सर्वसंग से मुक्त पुरुष के लक्षण भगवान् ने भक्त उद्धव को बताये हैं, जो इस प्रकार हैं– कृपालु, अकृत–दोही, सत्यवादी, सदाचारी, सर्वोपकारी, तितुक्ष, शुचि, अकिंचन, निरिच्छ, मितभोजी, स्थिर, भगवद्शरण, अप्रमत्त, गम्भीर, धृतिमान, अमानी, मानद, मित्र कारुणिक, कवि ये तीस लक्षण हैं। परमार्थी को इन्हीं की उपासना

करनी चाहिये। श्री सन्त सद्गुरुदेव तो साक्षात् इन लक्षणों के प्रतीक ही थे।

सन्त के सेवक

सन्त का जीवन ही वास्तव में मुक्त जीवन है। सन्त की उपस्थिति से जगत् का कल्याण होता है, ये जिस देश में रहते हैं वह देश पुण्य तीर्थ बन जाता है, ये जो उपदेश करते हैं वह पावन शास्त्र बन जाता है, इनके द्वारा होने वाले कर्म सत्कर्म समझे जाते हैं, इनकी समीपता में जो मनुष्य रहते हैं वह देव हो जाते हैं।

स्वयं भगवान भी सन्त की महिमा गाते हैं; वे तो ऐसे सन्त के पीछे–पीछे घूमते हैं जो निरपेक्ष हैं, शान्त हैं, निर्वैर और समदर्शी हैं।

संसार में अपने मन के सुख के लिये वस्तु और व्यक्ति की सेवा करने वाले सेवक लाखों दिखाई देते हैं किन्तु आत्मोद्धार के लिये विरक्त ज्ञानी सन्त की सेवा करने वाले सेवक कहीं–कहीं मिलते हैं।

हमारे इन पूज्यपाद सन्त के समीप भी अनेकों सेवक रहे, उनमें से कोई नितान्त निर्धन, कोई अत्यधिक धन सम्पन्न, कोई निपट अशिक्षित, कोई उच्चकोटि के विद्वान भी देखे गए। अनकों सेवकों में गिने चुने पाँच व्यक्तियों को ही परमहंस जी की सेवा में सपरिवार को पवित्र बनाने का सुअवसर मिला है और इन सन्त सद्गुरु की अन्तिम सेवा का सौभाग्य प्राप्त करने वाला तो एक ही परिवार है–उसे हम पाली निवासी माता जी का परिवार कह रहे हैं।

यह पाली ग्राम, कानपुर से चौदह मील आग्नेय दिशा में है। कानपुर जिले में यह परिवार बड़े रईसों में गिना जाता है। यद्यपि संसार में बड़े–बड़े रईस, राजे, महाराजे लाखों हैं किन्तु तत्वदर्शियों की दृष्टि में तो यह लाखों धनी–मानी रईस राजे महाराजे सभी वस्तु और व्यक्ति की दासता में बद्ध एवं तुच्छ सुख भोगों के लिए दीन तथा दरिद्र ही हैं। इन लाखों राजे महाराजों, रईसों और पूँजीपतियों में यथार्थ रूप में वही सौभाग्यशाली है जो अपनी शक्ति सम्पत्ति से दुर्भाग्यशालियों पर दया करता हो, उनकी रक्षा करता हो; इसी प्रकार जो भौतिक सम्पत्ति का दान में, दुःखियों की सेवा में सदुपयोग करते हुए अनुपम दैवी सम्पत्ति से समलंकृत हो जो भोग जनित सुखों को तुच्छ जानकर अपनी इन्द्रियों को बुद्धिपूर्वक स्ववश रखते हुए परमात्मा का अनुरागी बन रहा हो।

इस पाली ग्रामाधिपति माता–के प्रति सन्त सद्गुरु देव ने जो महान कृपा का परिचय दिया वह इसकी धन सम्पन्नता एवं विभव को देखकर नहीं प्रत्युत इस देवी की उत्कृष्ट श्रद्धा तथा सेवा से सन्तुष्ट होकर ही इसे अपना कृपा पात्र बनाया था। इस देवी की उत्कृष्ट श्रद्धा तथा गुरु की अनन्य भक्ति ही पूर्व जन्मों के सम्बन्ध की परिचायिका है, जैसा कि प्रसंगोपात् श्री स्वामी जी ने एक बार बतलाया था। तभी से इस जीवात्मा का सम्बन्ध चला आता है।

पाली में योगीराज क्यों पधारे इसके पीछे विचित्र कथा है वास्तव में सुख वैभव के बीच में घिरे हुए जीव को जब तक दुःखों का अनुभव

नहीं होता तब तक सर्वाधार परमेश्वर प्रभु की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वैसे तो संसार में ऐसा कौन सुखी है जिसे सुख के आगे आने वाले दुःख का भय न सता रहा हो। हाँ, ऐसा मनुष्य या तो निपट मूर्ख होगा या तो फिर कोई तत्वदर्शी ही होगा जिसे सुख के आने में दुःख का भय न लग रहा हो। सारांश, इस दो के अतिरिक्त सभी भयभीत रहते हैं। इस देवी का भी सुखी जीवन तो था ही उस समय सन्त सद्गुरु देव की शरणपन्नता का अवकाश ही कहाँ, कदाचित् पूर्व जन्म के संस्कार यदि प्रेरित भी करते हैं तो भाग्यपथ में परिस्थिति की अनुकूलता तो बिरले ही किसी पुण्यवान् को मिला करती है।

सुख के दिनों में भला कौन सोचता है कि कभी अचानक दुःख की आग भी भाग्यपथ में धधक सकती है। कष्ट के कृष्ण सागर में तैरने के लिये तो कोई बिरले ही बुद्धिमान तैयारी करते हैं। अन्त में प्रत्येक सुखी को अपने नेत्रों से अवर्णनीय मनःसन्ताप के कारण संज्ञाहीन करने वाली गर्म अश्रु–धारा बहानी पड़ती है। संसार में ऐसा कौन है जिसे लाभ के सन्मुख हानि का दुःख, संयोग के आगे वियोग का दुःख, सम्मान के आगे अपमान का दुःख और जीवन के आगे मृत्यु का दुःख न देखना पड़ा हो।

इस सौभाग्यवती देवी को भी आकस्मिक पति वियोग का दुःख प्रगट हुआं कुटुम्ब के ही किसी व्यक्ति ने सम्पत्ति–लोभवश, एक हत्यारे को प्रलोभन देकर इस देवी के पति को मरवा डाला। हत्यारे ने जिस रात्रि में सोते हुए इस प्रतिष्ठित सज्जन पर शस्त्राघात किया उसी

समय इन परमहंस जी को ध्यानावस्था में यह भयानक कारण दीख पड़ा और वह हत्यारा इस देवी के पति की देह को नष्ट कर संभवतः इस धर्मात्मा पत्नी की भी हत्या करने के विचार से ज्यों ही आगे बढ़ा कि उसी समय अकस्मात् ध्यानावस्था में इन समर्थ सन्त का एक हाथ ऊपर को उठ गया। उस समय परमहंस नागाजी पाली से छः मील दूर बरई ग्राम में आसन लगाये हुए थे। वहीं उनकी बाल लीला चल रही थी।

इनका हाथ उठ जाने पर भला संसार में किसको साहस है कि इनके रक्षित भक्त पर हाथ उठा सके। उस हत्यारे को अपना विचार बदलना पड़ा, वह भयातुर होकर इतना घबरा गया कि वहीं उसे शौचक्रिया करनी पड़ी और वह तुरन्त महल के बाहर निकल गया।

पति के वियोग में एक प्रेमिका पतिव्रता नारी के दुःख का भला क्या अनुमान किया जा सकता है? इस महिला के चारों ओर अन्धकार था। यह अपने को पूर्ण अनाश्रिता अनुभव करती हुई दुखताप से झुलसते जीवन के दिन किसी तरह काट रही थी। अचानक किसी के द्वारा इस देवी को यह समाचार मिलता है कि हत्याकाण्ड में प्रमुख हाथ रखने वाले व्यक्ति बरई ग्राम में विचरने वाले सन्त नागा बाबा के पास इस आशय से गये थे कि सन्त की कृपा हो जाय, आशीर्वाद मिल जाय तो अभियोग से मुक्ति मिल सकती है। परन्तु परमहंस नागा जी महाराज ने उस अभियुक्त की प्रार्थना पर यही कहा कि यदि तुमने यह पाप किया है तो यहाँ से छूट जाने पर भी दैवी विधान के

द्वारा दण्ड पाओगे ही और यदि निर्दोष हो तो तुम्हें कहीं भी भय न करना चाहिये। स्वामी जी ने यह भी बता दिया कि कुछ दिन में ही यह हाकिम बदल जायगा, दूसरा हाकिम जो आयेगा वह तुम्हें छोड़ देगा। इस प्रकार के संवाद को सुनकर इस दुःखी माता के हृदय में भी सन्तशरण लेने की सद्भावना प्रबल हुई और इस माता को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह पहुँचे हुये सन्त मुझ पर अवश्य दया करेंगे, इन्हीं की शरण में अब अपना लौकिक पारलौकिक कल्याण होगा। इस पुण्यमयी प्रेरणा के अनुसार उसी समय इस व्यथित हृदया देवी ने अपने एक विश्वासपात्र व्यक्ति द्वारा अपना करुणात्मक संदेश भेजा और अपने गृह में पधारने की प्रार्थना की। परमहंस जी तो दुखियों पर दया करने के लिये सदा तत्पर ही रहते हैं, करुणा प्रार्थना सुनते ही चल पड़े और पाली आकर कुछ बालकों के साथ इसके गृह में पधारे। इस दुखिया ने अपनी छोटी–छोटी दो कन्याओं को सामने करके अपनी दुःख की सारी कथा सुनाई, परमहंस जी का कोमल करुणार्द हृदय द्रवित हो गया, दुखी के सीस पर अभयहस्त रखते हुए आश्वासन दिया कि 'घबराओ नहीं, अब हम हैं और तुम्हारी रक्षा करेंगे, तुम्हारे अब एक पुत्र होगा।' इतने वचन सुनते ही दुखी माता को अवर्णनीय शक्ति–प्राप्ति का अनुभव हुआ, अद्भुदः नृतन स्फूर्ति से मुरझाये प्राणों में बल प्रदीप्त हो उठा।

आनन्द स्वरूप सन्त की समीपता में दुःख की आग का शमन होना अनिवार्य है। उसी क्षण से देवी सन्त सद्गुरु की शरणत्र हुई,

जीवन को एक प्रकाशपूर्ण परमार्थ की दिशा दिखाई देने लगी। उस समय कुछ सन्तोषप्रद वाक्य कहकर सन्त तो जहाँ से आये थे चुपके बिना किसी को बताये अपनी गतिविधि के अनुसार लौट गए। कुछ महीने बीतने पर सद्‌गुरु के शुभाशीर्वाद से इस दुखी माता के एक पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम राम प्रताप सिंह रखा गया और श्री स्वामीजी ने अपनी ओर से इन्बहीं का नाम अमरनाथ रखा। यह अमरनाथ भी श्री स्वामी जी के पूर्व से सम्बन्धित आत्माओं में से हैं।

श्री परमहंस जी से जितने भी सम्बन्धित जीवात्मा हैं उन्हें अपनी अपनी श्रद्धा एवं अपने अपने त्याग तथा तप अथवा दान धर्म के अनुसार स्वामी जी के अति निकट या दूर सभी को स्वकर्मानुसार दया कृपा पर अधिकार सुलभ हुआ है।

श्री परमहंस जी के आशीर्वाद से जन्म लेने वाले इस माता के पुत्र–रूप जीवात्मा का पूर्व जन्म में क्या नाम रूप था और श्री महाराजजी का संयोग कितने जन्मों से चला आ रहा है, इसका कुछ आभास श्री महाराज जी के द्वारा ही कुछ लोगों को मिला है किन्तु उसे स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल समझाने के लिए इतना ही बहुत है कि जिन आत्माओं पर गुरुदेव की इतनी कृपा है कि अपनी सेवा के लिये अधिक से अधिक निकट स्थान देते हैं अवश्य ही वह जीवात्मा इ नके अधिक निकट हैं एवं कृपा पात्र हैं।

सन्त सद्गुरु अथवा भगवान तो शुद्ध भाव के वशीभूत होते हैं और भाव की विशेषता त्याग तथा दान से प्रकट होती है। जो जितनी सरलता से दोषों का त्याग कर सकता है और अपने को प्रिय लगने वाली वस्तुओं का इष्ट देव की प्रसन्नतार्थ दान कर सकता है, वह उतनी ही सरलता से इनकी दया कृपा का पूर्ण अधिकार होता है। सहर्ष त्याग तथा सर्वस्व के दान से ही प्रेम की पूर्णता प्रमाणित होती है और सहज तप एवं आज्ञा पालन की तत्परता से ही पूर्ण श्रद्धा का परिचय मिलता है।

जो विवेकपूर्वक सहर्ष त्यागी एवं तपस्वी हैं, जो सानुनय भाव से आज्ञाकारी और दानी हैं वही सच्चे प्रेमी एवं पक्के श्रद्धालु हैं। इस प्रकार के श्रद्धालु प्रेमी ही सन्त सद्गुरु की परम गुरुता एवं पूण कृपा के अधिकारी होते हैं। पाली ग्राम के इस सभ्य परिवार पर श्री गुरुदेव की विशेष कृपा रही। इस माता ने अपने पुत्र को श्री गुरुदेव की शरण में ही डाल रखा था। दिन रात शत्रु के गुप्त आक्रमण की आशंका इसके हृदय से दिन रात श्री गुरुदेव का ही चिन्तन करते हुए तथा इन्हीं की कृपा का पूर्ण भरोसा रखते हुए इस माता ने एक एक दिन करके आठ दस वर्ष बड़ी कठिनता से व्यतीत किये।

जब बालक सयाना हो गया तब इसकी भी श्री गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा विकसित होने लगी। जन्मान्तरों से परिवर्द्धित होती हुई गुरुदेव की सेवा करने की अभिलाषा प्रबल हो रही थी। महात्वाकांक्षा का उत्तर ऊपर से दया के रूप में मिला ही करता है अतः गुरुदेव ने

ठीक समय देखकर इन भक्तों को अपनी निकटता का अवसर दिया और ऐसा दिया जैसा किसी ने भी प्राप्त न किया होगा।

इस परिवार की श्रद्धा अनन्य भक्ति एवं सेवा देखकर गुरुदेव इन लोगों की रुचि के अनुसार अन्य भक्तों के यहाँ घूम फिर कर भी अधिकतर पाली में ही अपना समय देते रहे। यहीं पर अनेकों व्यक्ति अपने आत्म–कल्याण के लिये परमहंस जी की शरण आये। कुछ लोग तो घरबार छोड़कर इन्हीं के साथ रहने लगे। परमहंस जी की तो यह नीति ही थी कि चाहे कितना ही कोई अधम पापी भी क्यों न हो यदि शरण आ गया तो उसका त्याग नहीं करना है, उसे निराश नहीं करता है। तदनुसार ही इनकी शरण में सभी प्रकार के लोग आये और परमहंस जी बराबर सब को आश्रय देते रहे। प्रायः ऐसा देखा गया कि प्रत्येक प्रेमी को अपने–अपने भावानुसार परमहंस जी की शरण आते ही उसी समय अद्‌भुत शक्ति अथवा शान्ति का अनुभव हुआ। बिहार प्रान्त के एक सज्जन उदर रोग से इतने पीड़ित थे कि अपने जीवन से निराश होकर स्वामी जी की शरण में संन्यास लेने आये। स्वामी जी ने उन्हें भी गृह त्याग की सम्मति दे दी और अपनी विभूति लगाई, उसी समय से उनका उदर कष्ट न जाने कहाँ छूमन्तर हो गया। उनका नाम श्री परमहंस जी ने रतन निधि रखा। यदि वे शरण न गए होते तो उन्हें इतना कष्ट था कि वे अधिक दिन जीवित न रह सकते थे। सन्त की शरण आ जाने के कारण ही उन्हें बीसों बरस साधन भजन करने का अवसर मिला (आज हम उन्हें बहुत

सुन्दर संयमी विरक्त विवेकी साधु के रूप में देख रहे हैं) इसी प्रकार अनेकों सज्जन गुरुदेव की शरण में आकर अपने जीवन को सफल बना रहे हैं।

एक व्यक्ति युवावस्था में गृह सुख से विरक्त होकर गुरुदेव की शरण आये उनका नाम त्यागी जी रखा गया। दूसरे व्यक्ति अपनी भव्य आकृति प्रकृति के निराले सिद्ध हुए उनका नाम गुरुदेव ने केवल करण जी रखा; तीसरे व्यक्ति के बाल विराग को देखकर न जाने क्या अनुभव किया, जिसके आधार पर उन्होंने शरणागत बालक का नाम पलकनिधि रख दिया। चौथे व्यक्ति ऐसे आये जिनकी वृद्धावस्था में आवेश एवं उत्तेजना को शान्त होते देखकर उनका नाम शीतलजल रखा। पाँचवे व्यक्ति की बाल सुलभ कोमलता को देखकर उस शरण पत्र शिष्य का नाम बालकृष्ण रख दिया। छठवें शिष्य की स्वभाव विलक्षणता को देखकर ब्रह्मयोगी तथा सातवें व्यक्ति में वाक–चातुरी का अनुभव करते हुए चतरवैन नाम रखा। इसी प्रकार सबकी आकृति प्रकृति तथा मनःस्थिति को देखते हुए तद्नुरूप ही लोमषरिषि, शीलशैन, केशकरन, शुकदेव जी गुफावासी, सुमेरगिरि, मुर्छल जी आदि नाम शिष्यों के रखे गये। गुरुदेव की शरण में आने से सभी व्यक्तियों को अपनी–अपनी भावनानुसार प्रगति मिली। सभी को अपने प्रति उनकी अनोखी दया, कृपा का अनुभव हुआ।

विरक्त शिष्यों के अतिरिक्त गुरुदेव की समीपता का सौभाग्य तथा सेवा का सुअवसर जिस प्रकार अन्त में पाली निवासी माता जी

के परिवार को मिला उसी प्रकार फतेहपुर निवासी बाबू रामप्रसाद बद्रीप्रसाद कक्कड़ भी गुरुदेव की निकटता प्राप्त कर परिवार समेत प्रधान सेवकों में सन्मान्य हुए।

गुरुदेव के सेवकों में डिप्टी महेन्द्रपाल सिंह तथा बाबू रामनारायण आदि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी श्रद्धा में आदर्श प्रगाढ़ता देखकर चकित रह जाना होता है। ये अपने गुरुदेव को अपने से दूर देखते ही नहीं हैं। पुरुषों की अपेक्षा कुछ मातायें गुरुदेव की ऐसी विलक्षण भक्त हैं कि पुरुष तो उनसे पीछे ही दिखते हैं। स्थानाभाव के कारण आज हम गुरुदेव के प्रधान भक्तों का नाम भी नहीं दे पा रहे हैं। वास्तव में भक्तों के द्वारा ही भगवान की महिमा प्रगट होती है।

प्रायः गुरुदेव के जितने भी प्रेमी बने सब आदर्श और अर्थार्थी ही दिखाई दिये। जिज्ञासु भाव से तो कोई बिरला ही आया होगा। परन्तु धन्यवाद श्री गुरुदेव की दया एवं उदारता को कि जो जिस भाव से आया उसकी पूर्ति के लिये जो कुछ भी करना पड़ा इन्होंने वही किया। अपने शरणागतों की दुःख निवृत्ति के लिये अर्थ की पूर्ति के लिये कभी–कभी तो श्री गुरुदेव को बड़े–बड़े कष्ट सहन करने पड़े। कहीं–कहीं इतना अधिक परिश्रम करना पड़ का जिसका वर्णन करने में दुःख एवं संकोच होता है। यह सत्य रूप में देखा गया कि 'महान् ही नमते हैं।' हमारे गुरुदेव भगवान् कितने महान् हैं इसका अनुभव इनकी नित्य नमनशीलता को देखकर हुआ।

श्री गुरुदेव पूर्ण निर्भय हैं और अपने शरणागत को भी निर्भय करने वाले हैं फिर भी इन्हें एक भय लगा रहता था कि अपने द्वारा किसी भी जीव को दुःख न पहुँच जाय। ये दूसरों को सुख देने के लिये परम वीर देखे गये और दुःख पहुँचाने में अत्यन्त बलहीन से प्रतीत हुए। जबकि इसके विपरीत स्वार्थी साधारण मानव दूसरों को दुःख देने में प्रायः बलवान दीखता है और दूसरों को दुःख देने में दुर्बल बन जाता है।

निर्वाण

जिस दिन महा प्रयाण समय था।।
शशिशोभित निशि, प्रकृति शान्ति थी किन्तु भयानक मची क्रांति थी।
जब कि हमारे जीवन धन के जीवन का प्रस्थान समय था।

मृत्यु मुक्ति में संघर्षण था आदि शक्ति का आकर्षण था।
इधर योगिवर के द्वारा भी ईश–नियति का मान समय था।।

कृटिल काल का कठिन कृत्य था परिवर्तन का नग्न नृत्य थां।
धर्म सत्य श्रीकीर्ति आदि का अधिकांशिक अवसान समय था।।

इच्छित फलद अतुल दया था, रक्षक सदा सुखद साया थी।
भक्ति युक्ति के पुण्य कल्पतरु, का यह अन्तर्धान समय था।।

दिव्य धाम पर सुलभ विजय थी, शक्ति चेतना शिव में लय थी।
किसी किसी को इस दर्शन का, मिला अमूल्य महान समय था।।

चेतनता जड़ बन सोती थी, जड़ता चेतन बन रोती थी।
इस अवसर में पंचतत्व की, भौतिकता का दान समय था।।

ऐहिक लीला की समाप्ति थी, अच्युत पद की नित्य प्राप्ति थी।
पथिक ज्ञाननिधि एक सन्त का, यही ब्रह्म निर्वाण समय था।।

मुक्त सन्त का देह त्याग

जीवनमुक्त सन्त मृत्यु से रहित होते हैं। ऐसे सन्त विश्वव्यापी नियमों को स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं। सन्त किसी से शासित नहीं होते, ये सत्याश्रमी होते हैं। श्री परमहंस जी इस भूतल पर कुछ लेने न आये थे। किसी भी प्रकार के ऐहिक सुख की वासना इन्हें जगत में न लाई थी–ये तो केवल देने ही आये थे। योगी महापुरुष किसी के ऋणी होकर नहीं रहते तभी तो ये मुक्त होते हैं।

श्री परमहंस जी भौतिक शरीर द्वारा सांसारिक कर्त्तव्यों को प्रायः जब पूर्ण कर चुके तब अपने स्थूल शरीर के त्याग की सूचना अस्पष्ट शब्दों द्वारा अपने निकटवर्ती प्रमियों को देने लगे। एक दिन पाली स्थान में ही प्रसंगपात कहने लगे कि 'हमने ध्यान में देखा है, इस चने के खेत में कुछ लोग हमारे शरीर को चिता में जला रहे हैं' तत्पश्चात् उसी स्थान में समाधि मन्दिर बनने का भी संकेत कर दिया। उस समय तो यह बातें समझ में किसी के न आ सकीं परन्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष ही सब ने गुरुदेव के कथनानुसार ही सारे कृत्य किये और देखे तब पूर्व सूचना का अर्थ समझ में आया। इन्हीं पूज्य सन्त महात्मा की अस्थि समाधियाँ–बरईगढ़, ककराली व असरगंज एवं चरण पादुका समाधि–मन्दिर फतेहपुर असोथर तथा मूर्ति मन्दिर अठसरांय में बने हैं। वास्तव में सूक्ष्म स्तर में स्थूल दृश्य का आभास

कितने ही महीनों या वर्षों प्रथम से ही मिलने लगता है और सन्त योगी लोग सब शरीरों के दृष्टा होते हैं। अतः जिस स्तर की जो बात होती है उसे वे जान लेते हैं। जैसे कि हम जिस भव्य भवन को आज साकार रूप में देखते हैं वही भवन चित्र निर्माता के लिये महीनों पूर्व सन्मुख आ जाता है उसी प्रकार तत्वदर्शी योगी के अन्तःकरण में भविष्य में होने वाली घटना प्रतिभासित हो जाती है। वे वर्षों पहिले देखने लगते हैं कि देह का प्रारब्ध किन–किन रूपों में सन्मुख आयेगा। वे यह भी देख लेते हैं कि कहाँ संहार होगा। भूलोक में होने वाला परिवर्तन देव लोक में कितने ही काल पहिले निश्चित हो जाता है। योगी की सर्वत्र अबाध गति है इसीलिये वह पहिले से ही सावधान हो जाता है। वह जानता है कि क्या आ रहा है और क्या जाने वाला है।

योगीजनों के पीछे महामाया की प्रेरणा काम किया करती है उसी के आदेशानुसार महापुरुष पृथ्वीतल पर लोक कल्याणार्थ आते हैं और अपना काम पूरा करके प्रेरणानुसार समय पर चले भी जाते हैं। योगी महापुरुषों का जीवन चरित्र अद्भुत होता है वे अपने को जहाँ तक किसी अधिकारी भक्त को समझाते और दिखाते हैं बस वहीं तक कोई प्रेमी उन्हें समझ सकता है और उनके विषय में कुछ कह सकता है।

हमारे गुरुदेव श्री परमहंस जी महाराज विलक्षण महापुरुष हैं। इ नकी कुछ बातें अभी तक समझ में न आई। इ नके रचे हुए पदों का

अर्थ प्रायः कोई समझ ही नहीं पाता जो कि उनके दर्शन का विषय है। श्री गुरुदेव जी भौतिक लीला समाप्त करने के कुछ वर्ष पहिले से यह कहने लगे थे कि मैं कैलाश जाऊँगा और वहीं तप करूँगा। इनकी यह अटपटी सी बातें प्रायः सर्वसाधारण पुरुषों की समझ में नहीं आतीं परन्तु प्राचीन काल से महापुरुषों के जीवन–चरित्र मनन करने से स्पष्ट हो जाता है कि योगी अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही स्वतंत्रतापूर्वक किसी भी लोक को चले जाते थे। योगियों की सामर्थ्य में अवश्य ही न्यूनाधिकता का भेद रहा करता है। प्रत्येक योगी प्रत्येक लोक में अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही प्रवेश कर सकता है। बाल ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरिता श्री शुकदेव जी की कथा चिरप्रसिद्ध है। उन्होंने योग बल से सूर्य मंडल में प्रवेश किया था। महाभारत में यह कथा है कि नारद का उपदेश सुनकर उन्होंने मन ही मन सोचा कि चन्द्रमा में ह्रास–वृद्धि होती है अतः वहाँ जाना उचित नहीं। सूर्य अक्षय मंडल है, वह अपने उज्जवल रश्मि बल द्वारा सब स्थानों से नित्य तेज खींचते हैं।

इसी से शुकदेव जी महाराज ने अपनी स्थूल देह को त्याग कर ऋषियों के साथ सूर्य मंडल में जाने की इच्छा की। तदनुसार शरीर में आत्मा का दर्शन किया। तत्पश्चात् नारद की प्रदक्षिण कर पुनः योग बल से आकाश मार्ग में प्रवेश किया। उन्हें देव लोक को जाते हुए देवता गन्धर्व अप्सरा रिषि–सिद्ध–मंडली आदि सभी ने देखा और ये सब अत्यन्त विस्मित हुए। श्री शुकदेव जी की भाँति अनेक ऋषि

महापुरुष योगी अपनी–अपनी सामर्थ्य के अनुसार भिन्न–भिन्न लोकों में जाते हैं और वहाँ के दिव्य सुखों का उपभोग करते हैं परन्तु कैलाश तो योगीश्वर भगवान (शिवजी) का धाम है। वहाँ भोग न होकर दिव्यतम योग की सिद्धि मिलती है। उस कैलाश धाम में जाने की सूचना योगिराज परमहंस जी प्रथम से ही देने लगे थे।

जो जिस देवता की उपासना करता है उसे उसी की प्राप्ति होती है। जिसका जितना अधिक उत्कृष्ट तप एवं त्याग होता है देव धान में भी उसे उतना ही ऊँचा स्थान प्राप्त होता है। कैलाश धाम की क्या महिमा है? वहाँ का ऐश्वर्य कितना महत् होगा इसका अनुभव भला भू–लोक में रहने वाले प्राणी को कैसे हो सकता है, वहाँ तो केवल योगियों की ही गति हो सकती है। योगीश्वर भगवान शिव को जो कोई अपने त्याग तप से सन्तुष्ट कर सके वही उनके कैलाश धाम में प्रवेश कर सकता है। ऐसा उत्कृष्ट तप तथा त्याग परमहंस श्री नागा जी महाराज ने किया उसके बल पर वे कह सके कि 'मैं कैलाश जाऊँगा' और उसी लोक में वे प्रतिष्ठित हुये।

श्री परमहंस जी जिस लिये इस भूतल में उतरे थे वह सब अपना काम पूरा कर चुके थे। अपने को संसार के युगान्तरों से चले आने वाले कर्मानुबन्ध के ऋण के मुक्त कर लेना तथा जिसके आगे विश्व विस्तृत हैं और जिसके पीछे विश्वाधार परम तत्व स्थित है उस हृदय ग्रन्थि को भेद कर विश्व से विरक्त और विश्वनाथ से अनुरक्त हो रहना ही तो इनका मुख्य काम था। हाँ इसके साथ ही और भी एक

काम था। अपने आश्रित शरणागत प्रेमियों के दुःख दूर करते रहना, उन्हें परमार्थ सिद्धि के लिये साधन भजन में लगाना, सबको सन्मार्ग दिखाना– यह सब कार्य भी परमहंस जी पूर्ण कर चुके थे।

वैसे तो ये अपने देव दुर्लभ महाप्रयाण के लिये पूर्ण निश्चित थे फिर भी कभी–कभी दीन दुर्बल भक्तों के बन्धन दुःख की निवृत्ति का प्रश्न उठाकर विशेष गम्भीर हो जाया करते थे। क्योंकि अपने शरणागतों के संकट निवृत्त करने एवं सबके निर्द्वन्द निर्भय देखने की इनके हृदय में बड़ी उत्सुकता रहा करती थी शरीर की अनुपस्थिति में अपने से मिल रहने के लिये वे यही उपाय बताते थे कि 'जो कोई मेरा ध्यान करेगा उस पर मेरी दृष्टि रहेगी'।

आज भी यह स्पष्ट अनुभव होता है कि श्री गुरुदेव का साकार रूप तो हम सब के समक्ष नहीं है परन्तु इनकी कृपा शक्ति तो हम सब के साथ नित्य ही है और हम सब लोग अपनी–अपनी पात्रता के अनुसार श्री गुरुदेव की ही शक्ति से नित्य निरन्तर अनुप्राणित हो रहे हैं। हम सबको आध्यात्मिक नित्य सामर्थ्य के दाता एक मात्र श्री गुरुदेव भगवान ही हैं। भले ही अविवेकवश हम अपने सीमित अहंकार में अभिमान का रस लेने लगें परन्तु विवेक जीवित होने पर तो हम सभी लोगों को यही अनुभव होना चाहिये कि हम लोगों में जो कुछ भी शुभ तथा सुन्दर दीखता है वह सब श्री सद्गुरु प्रदत्त ही हैं। हम सब के पीछे श्री सद्गुरु देव की प्रेरण कार्य कर रही है। जिनके हृदय में गुरुदेव के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है, उत्कृष्ट प्रेम है वे तो अपने

रूप में श्री गुरुदेव की ही सत्ता–महत्ता का दर्शन एवं अनुभव करते हैं।

पाली की श्रद्धालु माता जी ने एक बार श्री गुरुदेव जी से (जब कि वे अपनी कैलाश यात्रा अर्थात् शिवलोक जाने की बात कर रहे थे) पूँछा–भगवान् यदि आप हम सबको छोड़ कर चले जायेंगे तो हम सब की मझधार में पड़ी हुई इस जीवन नैय्या की क्या दशा होगी? इस प्रश्न का उत्तर श्री गुरुदेव भगवान् ने अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में यह दिया था कि हमारे पीछे यह सब शिष्य लोग रहेंगे ही यही सब करेंगे। अब हम शिष्यों को भले ही कुछ करते हुए न पायें परन्तु शिष्यों की ओट से तो आज श्री गुरुदेव बहुत कुछ कर रहे हैं।

श्री गुरुदेव भगवान् के इस वाक्य का बहुत ही विशाल अर्थ है। वे परम तत्वज्ञानी अपने को केवल पांच भौतिक शरीर की सीमा में ही आबद्ध नहीं देखते प्रत्युत इन्हें अपने परमात्मा स्वरूप का पूर्ण बोध है, जो कि नित्य शाश्वत एवं सर्वमय और सर्वातीत भी है। ये सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महतो महीयान ने इसीलिये यह सब से मिले रह कर सबको अपने भीतर समेट कर सर्वोपरि हैं। ये केवल एक नाम रूप में ही बद्ध नहीं हैं।

जहाँ असत्य सुख के भोगी परतंत्र एवं पराधीन होते हैं वहीं पर सत्य आनन्द के योगी परम स्वतंत्र होते हैं। ये काल के शासन में न रहते हुए भी काल से स्नेह करते हैं और सत्य नियम का समर्थन

करते हुए काल की क्रिया स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं। अपने इस महाप्रयाण के पूर्व ही एक दिन अपने निकटस्थ प्रेमियों के सामने जगन्नियात्मक, नियन्त्रक सत्य लोक से उतरे हुए आदेश को श्री गुरुदेव ने साधारण वाक्यों में प्रकट किया था जिसका भावार्थ यह था कि– 'ऊपर से हमारे लिये भूलोक से चलने की सूचना आई परन्तु हमने अभी अस्वीकार कर दिया है।' परमहंस जी की पूर्व कही हुई इ स बात का आशय यही दीखता है कि श्री परमहंस जी ने एक बार अपने महाप्रयाण की तिथि को टाल दिया था। सम्भवतः इनके सम्मुख अपने भक्तों का कुछ विशेष कार्य शेष था जो कि इन्हीं के शरीर द्वारा पूर्ण हो सकता था। पश्चात् दूसरी बार जगद्धात्री आद्या शक्ति ने अपनी इस पवित्रात्मा को जो वीतराग महापुरुष के रूप में पृथ्वी तल पर जनकल्याणार्थ विचर रही थी, अपने दिव्य धाम में आने के लिए पुकारा। उस जगतजननी की दिव्य वात्सल्य भाव संयुक्त प्रेममय पुकार को सुनकर ये महान् पुरुष फिर भला मृत्यु लोक में क्यों रुकते? विक्रम संवत 1993 का पावन कार्तिक मास था। इस मास की विष्णु पुराण में बहुत बड़ी महिमा लिखी है। इसी कार्तिक मास में स्नान, दान एवं व्रत के फल से महाराणी सत्य भामा को परात्पर भगवान् की परम प्रियतम रूप में प्राप्ति हुई थी। इस कार्तिक मास में ही भगवान् ने मत्स्यावतार धारण किया था। इस कार्तिक मास की द्वादशी को ही भगवान् शयन से उठे और त्रयोदशी को देवताओं ने उनका दर्शन कर चतुर्दशी को पूजा की थी, इसीलिये सनातन धर्मावलम्बी सज्जनों के लिए यह तिथियाँ बहुत ही पवित्र एवं महत्वपूर्ण हैं। श्री

व्यास जी ने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी के जागरण का बहुत महात्म्य लिखा हे। इस चतुर्दशी के व्रत तथा जागरण के पश्चात् पूर्णिमा को ब्राह्मण भोजन तथा दान के फल से भगवान् की प्राप्ति बताई गई है। इसी पुण्य मास कार्तिक चतुर्दशी की रात्रि में श्री परमहंस जी ने खड़े होकर बैठने के मध्य में ही भौतिक शरीर का त्याग कर दिया।

कुछ लोगों की गणनानुसार इनके शरीर की आयु ढाई सौ वर्ष के लगभग निश्चित होती है। इतनी आयु बीत जाने पर भी इनके शरीर में कहीं भी झुर्रियाँ नहीं पड़ी थी। ऊपर से जर्जरता एवं शीर्णता का लेश भी प्रतीत न होता था। किन्तु उन दिनों श्री परमहंस जी उस देह को कुछ कठिनता से खींच रहे थे और किसी समय भी उसे छोड़ देने के लिये तैयार हो चुके थे। परन्तु किसी को भी उस अन्तिम समय का पता न था! यह अपने शयनासन से उठकर भवन द्वार के बाहर निकले। भला किसे इसका ज्ञान हो सका था कि क्यों निकले हैं और क्या देखने निकले हैं? परन्तु अब तो यही कहा जायेगा कि ये किसी भी बहाने से भवन—द्वार से ही नहीं प्रत्युत नव द्वार वाली इस देह द्वार से ही बाहर होने के लिये निकले थे। साथ चलने वाले साधु चतुर बैन ने उस देह को भवन द्वार से बाहर होते तो देखा परन्तु इस देह द्वार से बाहर जाते परमहंस जी को किसी ने भी न देखा। निकटवर्ती सेवकों के हाथों उनका शरीर गिरता हुआ मिला किन्तु दिव्य धाम की ओर उड़ती हुई श्री गुरुदेव की दिव्यात्मा किसी को भी दिखाई न दी।

अनुभव हुआ कि तुम कितने स्वतन्त्र हो, कितने स्वाधीन हो, कि जो तुमने खड़े होकर बैठने के मध्यकाल में ही अपने शरीर को छोड़ दिया। साँप अपने केंचुल को छोड़ता है पर इतनी शीघ्रता से नहीं। अपने शरीर में पहिने हुए वस्त्र को मनुष्य उतारता है किन्तु इतने शीघ्र नहीं। यात्री अपनी निर्दिष्ट यात्रा के लिये अपने घर से बाहर होता है पर वह भी इतनी शीघ्रता से नहीं जितनी शीघ्रता से तुम अपने देह रूपी मंदिर से बाहर हुए।

वे पुण्यवान् पुरुष प्रातः स्मरणीय हैं जिनसे कुछ लेकर सद्गुरु की जीवन लीला का आरंभ होता है। साथ ही वे भी धन्य हैं जिन्हें कुछ देकर इनकी ऐहिक लीला का अंत होता है। उतनी पृथ्वी भी परम पुनीत नित्य स्मरणीय है जहाँ सन्त सद्गुरु का आविर्भाव होता है और वह भूमि भी, जहाँ से इनके सर्व सुलभ दर्शनीय रूप का तिरोधान होता है। श्री गुरुदेव भगवान् ने स्थानों में जितना ही अधिक निवास किया है तथा इनके शरीर से जो वस्तु जितनी ही अधिक सम्बन्धित रही है, इनकी सेवा का जिस व्यक्ति को जितना ही अधिक अवसर मिला है उतना ही अधिक उस स्थान में, उस वस्तु में और उस व्यक्ति में इनकी औजस पूर्ण शक्ति के परमाणु भी संनिविष्ट हुए हैं। इन तीनों के योग से कोई शिष्य भक्त श्री गुरुदेव से निःसृत आध्यात्मिक प्राण तत्व ग्रहण कर सकता है अतएव गुरुदेव से सम्बन्धित इन तीनों का सुयोग, श्रद्धालु शिष्य के लिये अत्यन्त हितप्रद है।

सन्त महात्मा संसार की एक ऐसी गुप्त निधि हैं जिन्हें कोई बुद्धिमान भाग्यशाली मनुष्य ही देख पाते हैं। उन देख पाने वालों में से भी कुछ व्यक्ति ही सन्तों के समीप आने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं और समीप आने वालों में से कोई–कोई पुण्यवान् ही सन्त सद्‌गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए उनकी आज्ञानुसार अपने जीवन को बन्धनों से मुक्त कर पाते हैं। यों तो श्री परमहंस जी में श्रद्धा रखने वाले, इनकी पूजा स्तुति करने वाले सहस्त्रों नरनारी थे परन्तु अधिकांश व्यक्ति अपनी संकट निवृत्ति के लिए अथवा किसी अर्थ की सिद्धि के लिये ही शरणापन्न हुए। ऐसे व्यक्ति केवल लेने की आशा से ही स्वामी जी के पीछे दौड़ते थे, देने के लिये तो जैसे इनके पास कुछ था ही नहीं किन्तु कुछ ऐसे भी भक्त थे जिनमें लेने के साथ–साथ दान करते रहने की भी प्रवृत्ति थी। उन्हीं में से कुछ गिन चुने ऐसे भी भक्त निकले जो लेने से तृप्त होकर दूसरों को देने में ही सन्तोष करते थे। श्री परमहंस जी के सहस्त्रों श्रद्धालु प्रेमियों में से उनकी अन्तरंग कृपा के अधिकारी तो कोई–कोई पुण्यवान ही हो सके। यद्यपि परमहंस जी ने अपनी कृपा गरीब–अमीर, बालक–वृद्ध, ऊँच–नीच सब के लिये समान रूपों में ही प्रदान कर रखी थी परन्तु सभी लोगउ उस कृपा से एक समान लाभ उठा सके वरन् अनेकों प्रेमी साधारण कामनाओं की पूर्ति से ही सन्तुष्ट होकर समय व्यतीत करते रहे।

श्री सन्त सद्‌गुरु के सन्मुख होकर जो जितना ही त्यागी होता है उनकी कृपा पर भी वह उतना ही अधिक अधिकार प्राप्त करता है। श्रद्धालु की सद्‌दास्पद के अतिरिक्त किसी भी वस्तु या व्यक्ति का मोह ही बाधक होता है। मोह नाश होने पर ही सत्यानुराग की सिद्धि सम्भव है। गुरुदेव भगवान से अभिन्नता की अनुभूति अर्थात् पूर्ण योग ही शिष्य की सर्वांगीण सफलता है और ऐसी सफलता सर्वोत्कृष्ट श्रद्धा पर ही निर्भर है। श्रद्धा के द्वारा ही सद्‌गुरु की महत्ता का अधिकाधिक ज्ञान होता है और महत्व का ज्ञान होने पर ही श्रद्धा अधिक से अधिक बलवती एवं सुदृढ़ होती है।

सन्त स्तुति

हे युग युग के अमर योगी, परम वन्द्य महात्मन्! हे परमबुद्ध महापुरुष! तुम्हारे दर्शन या चरण चुम्बन का सौभाग्य जिन्हें मिला है वे धन्य हैं। उनमें से कदाचित् कोई अत्यन्त पतित ही क्यों न हो फिर भी तुम्हारे सन्मुख होने का परम पुण्य तो उसके साथ है ही।

धन्य हैं वे ध्यानी जिन्होंने तुम्हारे निष्चल चित्त को अपने ऊपर कृपा करने के लिए आकर्षित किया है, वे ज्ञानी भी धन्य हैं जिनके ज्ञान में तुम्हारे शाश्वत प्रेम की सुधामयी परम तृप्तिकारी किरणें उतर रही हैं। हे युग–युग के अवतारी! हे अतीत के संदर्शक। महाव्याधिहर्ता तुमने न जाने कितने दुखियों की अश्रु से गीली पलके सुखाई हैं, कितने ही पीड़ितों के मुरझाये मुखों में उन्हें केवल दर्शन देकर ही प्रसन्नता की हरियाली बिखेर दी है, तुमने कितने ही दलितों दीनों की कुटियों में जाकर उन्हें सौभाग्य पथ में प्रेरित करते हुए उनके दुर्भाग्य का अन्त किया है– इसकी गणना तो तुम भी न कर सकोगे क्योंकि तुम्हारी अपरिमित शक्ति का तो दीनों, दुर्बलों, दलितों, दुखियों का त्राण करना, रक्षा करना, सहायता करना स्वभाव ही बन चुका है। इसीलिए हे अभय दानी, तुम्हें अपनी सतत् दानशक्ति का सम्भवतः मान ही नहीं होता।

हे अद्भुत अमानी! हे लोकोपकार व्रती! तुम्हें प्राणिमात्र पर हित करने का निरन्तर ध्यान रहा किन्तु करने के पश्चात् उसका भान न रहा। हे समाहित चित्त! सत्य निर्भर! हे सत्य संनिविष्ट दिव्य आत्मन्! तुम्हारी सुदूर प्रसारिणी भाव लहरों ने, विचार तरंगों ने मनुष्यत्व से दिव्यतव के अवतरण का संदेश दिया है। हे जगदाभूषण! तुमने अगणित भूले–भटके लक्ष्य विहीनों को लक्ष्य दिखाया और उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेकर जो कुछ भी करना पड़ा वही किया। हे ज्ञानोपदेष्टा! तुम्हारे निर्मल नेत्रों से मधुर आकर्षक स्नेह की धारा सी बहती हुई जिसने देखी है, तुम्हारी मनोहर मुखाकृति जो तप के तेज से, त्याग की शान्ति से, ज्ञान के आनन्द से दीप्तमान थी जिसने देखी है वह भला तुम्हें कैसे भूल सकता है।

हे विपुल बल शालिन्! हे उदार धीर अत्यन्त गम्भीर स्वामिन! मैंने देखा है कि तुमने अपने तन को, मन को भूलकर अपने शरणागतों, दीनों एवं दुखियों की किस प्रकार सेवाएँ की हैं। तुमने अपनी निरामय देह से न जाने कितनी देहों की व्याधि का भार वहन किया है; तुमने अपने सन्मुख दीखने वाले संकट की कहीं भी चिन्ता न करते हुए निजजनों का उद्धार किया है। हे अधमोद्धारक! तुम्हें शतबार प्रणाम है।

हे जनमन रज्जन भक्त प्राण! श्रद्धालु के जीवन! तुम्हारे नयन प्रान्त से न जाने कितनी अन्धी आँखों को ज्योति मिली है जिससे उनका चिर अन्धकार दूर हुआ है।

हे परम श्रद्धेय बाल सखा! हे भूतल पर अवतीर्ण परमेश्वर की आत्मा! तुम्हारी उपस्थिति मात्र से ही न जाने कितनी जरा–जर्जर देहों को जीवन प्रदायिनी प्राण शक्ति मिली है। हे आपन्नद शरणागत के संरक्षक! तुम्हारे स्मरण चिन्तन से ही कितने ही उच्छंखल जीवन शान्ति के पथ में अग्रसर हुए हैं। तुम्हारे पवित्र ध्यान से न जाने कितने पतितों को पावन पथ सुलभ हुआ है एवं दुर्बलों को आत्मबल, विपद्ग्रस्तों को अटूट धैर्य, बुद्धिहीनों को उत्कृष्ट बुद्धि, चंचल प्रकृति वालों को अविचल दृढ़ता के साधन सुलभ हुए हैं।

प्राण सागर बालपति! तुममें ही तो प्राणों की धाराओं ने अपने को सदुपयुक्त होते देख विराम पाया है। तुम्हारे गम्भीर गहन ज्ञानसागर से मानव जाति के लिये परम तृप्तिकर धारायें निकली हैं जिनमें सन्निविष्ट होकर ही मानव निर्मल हो सका।

हे अभेद द्रष्टा! प्राणिमात्र से परमात्मा के दर्शक! तुम्हारे परम प्रेम के व्यवहार का मनन करते हुए बुद्धिमान मानव प्रेम का पाठ सीख सका।

हे दोष दुर्विकार नाशक! तुम्हारी पवित्र प्रेरणा से मनुष्य निर्विकार एवं निर्दोष पद प्राप्त करने के लिये बढ़ सका। हे शक्ति के अचूक निर्भर! मेरे जीवन में उत्साह के दाता! तुम्हारा स्मरण आते ही मन में पावित्र्य मूर्तिमान हो उठता है, दम्भ नष्ट हो जाता है एवं मूकभाव जाग उठते हैं, सद्गति की प्रेरणा मिलती है। शान्ति दिखाई देने लगती है क्योंकि बुद्धि चमक उठती है। हे सच्च लोक हितैषी!

तुम्हारी स्मृति में एक मधुर वेदनामय हूकभरी हृदय के हर्षोल्लास एवं प्रेम भक्तिरस से आप्लावित आँसुओं की धारा बहने लगती है। हे परमहंस! तुम्हारे चरित्र–मनन से दैवी भावों की बाढ़ आ जाती है और हमारे संसार संतप्त हृदय को शीतल कर सत्योपासना की प्रेरणा देती है।

हे अमंगलहारी! चिर विजयी! तुम्हारा स्वार्थ संन्यास, तुम्हारा ज्ञानदण्ड, तुम्हारा प्रेम परिधान हमें यह प्रकाश देता है जो और कहीं से भी न मिल सका। उस निर्मल प्रकाश में ही हम अपना अध्ययन कर पाते है। कि तुममें और हममें कितना अन्तर है। उसकी अलंध्य दूरी कितनी सुगमता से लाँघी जा सकती है। उस कृपा को भी हम अपने चतुर्दिक देखते हैं जो तुम्हारी ओर से सदा सुलभ है।

हे त्याग और प्रेम के देवता! तुम्हारे हृदय के वीरत्व में हें मरकर जीने का महामंत्र सुनाई देता है। तुम्हारी सकल स्पर्शी दृष्टि, गम्भीर दृष्टि, प्रेममयी दृष्टि हम पर भी पड़ती है और हमें कहीं सन्तोष तथा कहीं भय होता है यह जानकर कि तुम हमें सर्वत्र देख रहे हो।

हे मुक्ति पथ प्रदर्शक! संघर्षातीत महासन्त! तुमने मानवता के सन्तप्त हृदय पर प्रेम, दया और करुणा की शीतल वर्षा की है। मुझे तो तुम्हारे ही जीवन से कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का अर्थ ज्ञात हुआ है।

हे शान्ति के पूर्ण अवतार! हे सत्य तत्व के एकान्त अन्वेषक। हे पतितोद्धारक! रागद्वेष से विहीन! सन्त रूप से तुम्हारे ही द्वारा सत्य

धर्म का महत्व प्रगट हुआ है। तुम्हारे द्वारा ही तपस्या एवं त्याग की महिमा प्रकट हुई है, तुम्हारे ही सहारे मानवता की भूमि में दिव्यता उतर सकती है।

हे शुभ्र मतिमान! लोकोपकारक गुणों से जन मन को मोहित करने वाले योगिराज! हमने अनेकों महात्माओं के दर्शन किये; किसी को उद्भट विद्वान, शास्त्र पारंगत पण्डित, कुशल वक्ता पाया; किसी को उत्कृष्ट तपस्वी, किसी को सर्वांग मौनी, किसी को आदर्शद त्यागी, किसी को अपनी सुध–बुध भूलने वाला प्रेमी तथा किसी को आदर्श ज्ञानी आदि विविध कलाओं, चमत्कारों से पूर्ण पाया और बहुतों के विषय में सुना परन्तु अन्त में तुम्हें देखकर किसी को देखने की रुचि न रह गई; क्योंकि तुम हमें सब कुछ के ऐसे समिश्रण मिल गये जिससे कि हमारे लिये किसी प्रकार का अभाव शेष न रह गयां

प्रभो! मैंने तुम में ही पूर्णता का दर्शन किया और उस पूर्णता का दर्शन किया जो मेरी बुद्धि के लिये नाप–तौल की सीमा से परे की वस्तु है। तुम्हें देखकर बस इतना ही समझ सका कि तुम पूर्ण के योगी, अपूर्ण के बन्धन से मुक्त पूर्ण हो; परमानन्द परमशान्ति एवं प्रेम से परिपूर्ण हो।

शमित्योउम्

¬पूर्णामदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते
पूर्णास्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवा वशिष्यते।

सन्त दुःखहारी

(संदर्शिका–श्रीमती गिरिराज कुमारी, स्थान पाली)

संसार में सन्त महापुरुष ही सर्व भावेन दयालु, परोपकारी दीन जनों के दुःखहारी, कल्याणकारी होते हैं–यह मैंने सुना ही नहीं, बल्कि इसी जीवन में प्रत्यक्ष देख भी लिया।

जीवन में यह भी अनुभव हुआ कि सन्त महापुरुष की आवश्यकता सांसारिक भोग सुखों एवं धन वैभव की अधिकता में नहीं प्रतीत होती। भोगासक्त सुखी प्राणी को अपनी सुखद वस्तुओं तथा व्यक्तियों के अतिरिक्त दूसरी ओर देखने का तब तक अवकाश ही कहाँ है जब तक उसके सुख में बाधा नहीं पड़ती। सुख–भोगों में रत प्राणी सन्त महात्मा के स्मरण की कौन कहे वह तो परमाधार परमेश्वर का भी स्मरण नहीं करता जब तक दुःख की कृपा नहीं होती। यह सत्य ही है कि दूर से या निकट से दुःख का अनुभव होने पर ही कोई दुःखहारी हरि की शरण लेता है।

मैं भी किसी समय अनुकूल परिस्थितियों की सीमा में अपने को सुखी मानती थी, प्रारब्ध योग से मेरे पति शरीर को एक हत्यारे ने कुछ धन के लालच में आकर कत्ल कर दिया। मेरा सारा सुख दुःख में परिणित हो गया। उस समय दो छोटी–छोटी कन्याओं के अतिरिक्त अपना आत्मीय कहने के लिये कोई अवलम्ब न रह गया।

हत्या कराने वाले अपने शत्रु पर सरकार की ओर से मुकदमा चल रहा था। अपने संरक्षक तथा शुभचिन्तक मित्र शत्रु के मुकाबले में वीरता से मेरा पक्ष तो ले ही रहे थे। उन्हीं के द्वारा समाचार मिला कि अपने ग्राम से छः मीन दूर बरई ग्राम में विचरण करने वाले सन्त नागा बाबा के पास मुकदमे से छूटने का आशीर्वाद लेने अभियुक्त व्यक्ति गए हैं परन्तु सन्त ने जो कुछ उत्तर दिया उसे सुनकर मुझे निश्चय हुआ कि सन्त सच्चे न्यायी होते हैं। तब तो किसी संचित पुण्यों की प्रेरणा से मेरे हृदय में इन्हीं सन्त के दर्शन की प्रबल अभिलाषा जाग्रत हो उठी।

अपने सहायक सम्बन्धी द्वारा जो कुछ प्रार्थना की, सन्त ने स्वीकार कर लिया और इन्होंने अनायास ही मेरे गृह में आकर मुझे दर्शन दिये। उस दिन मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि सन्त अकथनीय करुणा के समुद्र होते हैं।

इनके दर्शन पाते ही, मैं निराश्रिता, दुःख की मारी फूट–फूट कर चरणों में गिरकर रोने लगी। कुछ क्षण में मेरे नेत्र सन्त के मुखारबिन्द की ओर गए तो देखती क्या हूँ ये सन्त तो मुझसे भी अधिक बड़े–बड़े आँसुओं की धारा बहाते हुए अत्यन्त दुःख से कातर हो रहे हैं। मुझे तुरन्त होश हुआ कि अरे मैं अपने दुःख से सन्त के कोमल हृदय में क्यों आघात पहुँचा रही हूँ, उसी क्षण मेरा रोना रुक गया। मुझे प्रकृतिस्थ सावधान देखकर सन्त ने मेरी दुःख भरी कथा सुनने के लिये प्रश्न किया। मेरे मुख से सर्वप्रथम यही निकला कि भगवन अब

मेरा कोई आधार नहीं दीखता, मैं वहाँ अनाथ निराश्रिता हूँ। मेरे इस तरह के वाक्य सुनते ही उस भव्य तेजोमय मूर्ति से बहुत सान्त्वना से सने हुए वाक्य निकल पड़े कि 'अब हम हैं। इतना शब्द सुनते ही मुझे उसी क्षण इतना बल प्रत्यझ सा भासित होने लगा कि मेरा सारा भार यह सन्त उतार रहे हों; उसी क्षण मुझे अपने जीवन में विचित्र प्रकार का हलकापन अनुभव हुआ। उस दिन मैंने जाना कि सन्त दीन दु:खहारी होते हैं।

गंगा पाप को हरती है, चन्द्रमा ताप को हरता है, कल्पतरु दीनता को दूर करता है, किन्तु सन्त कृपा से तो पाप, ताप तथा दीनता तीनों एक साथ ही दूर हो जाते हैं जैसा कि मैंने अपने परमदु:खी, दीन परितप्त जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया है। इतना वाक्य सुनते ही कि 'अब हम हैं' मेरे भयानक त्रिदोष की वेदना दूर खड़ी दीखने लगी। सन्त ने सारी कथा सुनकर धीरज दिया और उसी रात्रि को पूर्व स्थान में बिना किसी को बताये ही लौट गए। साथ ही एक विलक्षण आशीर्वाद भी देते गये कि घबराओ मत तुम्हारे दो कन्या हैं तो क्या हुआ अब की पुत्र होगा। मैं कुछ संदिग्ध रूप से गर्भवती थी।

जिस शुभ दिन शुभ घड़ी में सन्त के दर्शन हुए और मैंने भरपूर श्रद्धा विश्वासपूर्वक शरणाश्रय लिया उसी समय से मुझ में अपूर्व चैतन्यता आ गई। पति वियोग का दु:ख तो असीम था ही किन्तु उसे सहन करने की विलक्षण शक्ति मिल गई थी। उस दिन से मुझे प्रत्यक्ष

अनुभव हुआ कि सन्त की कृपा से, शुभाशीर्वाद से, सन्त की समीपता में अद्भुत शक्ति का तन मन में संचार हो जाता है। ये सन्त तो आकर उसी रात्रि में चले गये परन्तु इनका यह वाक्य कि 'अब हम हैं', हमारे साथ रह गया और पग–पग की कठिनताओं को सरल बनाने लग गया। कुछ दिन पश्चात् मैंन स्वय बरईगढ़ जाकर सन्त योगिराज के दर्शन किये। साथ में भक्त हृदय को भी सान्त्वना दी और पहले से ही बता दिया कि इस बार इसके पुत्र होगा जिससे वंश चलेगा। उसी समय यह भी बताया कि जिस दिन यह हत्याकाण्ड हुआ था वह हत्यारा इस अबला को भी मार देना चाहता था लेकिन परमेश्वर की कृपा से उसकी मति पलट गई, दैवी शक्ति ने ऐसा न करने दिया, किसी प्रकार यह बच गई।

कुछ बातों से ऐसा प्रतीत हुआ कि इन सन्त की अन्तरात्मा से इस दुर्घटना को दिव्य दृष्टि द्वारा देख लिया और वह हत्यारा जब मेरे शरीर को भी नष्ट कर देने को बढ़ा तब सहसा सन्त की अन्तरात्मा ने प्रबल प्रकोप के कम्पनों द्वारा उस हत्यारे को भयातुर कर दिया वह अचानक शंकित होकर महल के बाहर निकल गया। उस समय मुझे यह ज्ञान हुआ कि सन्त अज्ञात रूप से अपने योग बल से अधिकारी जीवों की रक्षा भी किया करते हैं जैसे कि मेरे शरीर की उस हत्यारे के शस्त्र प्रहार से रक्षा की।

सन्त सद्गुरु ने हम लोगों को दुःखी देख पुनः समझाया, मस्तक पर अपनी विभूति लगाई और विदा किया। मुझे भी पूर्ण विश्वास हो

गया कि सन्त की कृपा दया से अब हमारा कल्याण निश्चित है, तभी से मैंने समझ लिया कि रोना व्यर्थ है। सन्त सद्‌गुरु की आज्ञा का ध्यान रखकर इन्हीं का आश्रय लेकर जीवन बिताना है और इसी निश्चय के अनुसार मैं अपने दुःखमय जीवन` दिन बिताने लगी।

फिर तो जितनी भी कठिनाइयाँ मेरे सामने आई सन्त की कृपा से सबकी निवृत्ति होती गई। ये सन्त ही उन भयानक दुःख के दिनों में अवलम्ब थे इन्हीं से एक मात्र अपनी पुकार थी। मैंने अनुभव किया कि सन्त प्रत्येक पुकार को सुनते हैं और अदृश्य रूप से सहायता करते हैं।

कुछ दिन बीतने पर मैंने पुनः सन्त सद्‌गुरु देव से पाली पधारने की प्रार्थना की, उत्तर मिला कि जब बच्चा पाली आयेगा (अर्थात् पुत्र जन्म होगा) तब हम आयेंगे। साथ में अपनी विभूति भेज दी। निश्चित समय बीतने पर सन्त के आशीर्वाद से पुत्र का जन्म हुआ। तब तो यह भी निश्चय हो गया कि सन्त अभीष्ट वरदाता और त्रिकालदर्शी भी होते हैं।

पुत्र जन्म होने पर तो हमारी श्रद्धा की सीमा भला कौन नाप सकता था, हमारे आसपास के संरक्षकों मित्रों के हृदय में पूर्ण अटूट श्रद्धा हो गई। पुनः सन्त सद्‌गुरु देव के दर्शन सुलभ हुए। आशीर्वाद से प्राप्त पुत्र को सन्त की गोद में डाल दिया उसे देखते ही सन्त सद्‌गुरु उस नवजात शिशु से ऐसे ढंग से बातें करने लगे जैसे कोई

समझदार परिचित व्यक्ति से बातें करता हो। इन्होंने बालक को देखकर कहा, बारह वर्ष बाद मिला है बड़े घर से अब छोटे घर में आया है– इस प्रकार की बातों का अर्थ पूछने पर कुछ भेद प्रकट किया कि यह जीवात्मा एक जन्म में वैरागी साधु था फिर एक जन्म में राजा हुआ, रानी अभी बनी है यह शरीर छोड़ यहाँ आ गया है– इस प्रकार पूर्व संयोगानुभव की शक्ति को देखकर मैंने समझा कि सन्त महापुरुष का अपने भक्तों से जन्मान्तरों तक सम्बन्ध बना रहता है।

दर्शन देकर पुनः लौट गए और एक साल बीतने पर पता चला कि गुरुदेव असोथर में विराजमान हैं। यहाँ से अपने परमविश्वास पात्र व्यक्ति द्वारा समाचार जानने को भेजा। उनके पहुँचते ही सन्त सद्गुरु ने पूछा कि ''बच्चा अच्छी तरह है?'' इस प्रश्न का उत्तर मिलने के पहले ही स्वयं बोल उठे कि ''बच तो गया''। यह वाक्य सुनकर पाली से गये हुए ठा0 दुल्ला सिंह तथा भदवरिया घबरा गये और पूछने लगे कि 'महाराज क्या बात है?' उत्तर में गुरुदेव ने यह कहकर समझा दिया कि कुछ नहीं जैसा तुम उसे छोड़ आये हो लौटकर वैसा ही खेलता हुआ मिलेगा।

वहाँ से लौटकर इन दोनों व्यक्तियों ने पाली आते ही जब सुना कि बालक के ऊपर 40 हाथ लम्बा 10 हाथ चौड़ा छप्पर गिर पड़ा था, एक देवी ने छप्पर तोड़कर बालक को निकाला भगवान की दया

से किंचित भी बालक के शरीर में चोट नहीं आई– यह सुनकर सन्त के उन वाक्यों का अर्थ मालूम हुआ कि 'बच गया' क्यों कहा था।

इस तरह की घटनाओं से मैंने अनुभव किया कि इन योगिराज की कितनी दूर प्रसारिणी दिव्य दृष्टि है और अपने भक्तों के संरक्षण के लिये कितने लम्बे दिगन्त व्यापी दिव्य हाथ हैं।

ये सन्त ही हमारे एक मात्र सर्वभावेन संरक्षक माता पिता भ्राता की भाँति आधार हो गए। अब तो इन्हीं के दर्शन मनन ध्यान में संतोष होता है, इनके ही वियोग का दुःख शेष रह गया था। सन्त का कहीं निश्चित घरबार तो होता नहीं, बीच–बीच में कभी दर्शन मिलते कभी महीनों पता ही न चलता। सौभाग्य से जीवन में ऐसे भी दिन आये कि सन्त सद्गुरु ने पाली परिवार पर विशेष रूप में कृपा की और ऐसी की जैसी कृपा कर हर एक को अवसर न मिल सका।

गुरुदेव के आशीर्वाद से ही जिस पुत्र रत्न की कोई आशा न थी वह पूरी हुई। बालक का नाम राम प्रताप रखा गया और गुरुदेव ने अमरनाथ नाम रखा जब से इस बालक का जन्म हुआ गुरुदेव को सदा इस बालक की रक्षा का ध्यान रहा। शत्रु के अनेकों षड़यन्त्र निष्फल हुए, धीरे–धीरे अमरनाथ सयाने हुए। इनका शरीर बढ़ने के साथ ही साथ इनके हृदय में गुरुदेव के प्रति श्रद्धा भी बढ़ती गई।

मैंने यह भी देखा कि योगिराज के हाथों द्वारा स्पर्श की हुई वस्तु में अद्भुत जीवनदायिनी शक्ति भर जाती है।

अमरनाथ को कई दिनों से जूड़ी के साथ तीव्र ज्वर आ रहा था। उन्हीं दिनों अचानक सन्त सद्गुरु सिसोलर से पाली पधारे। घर में आते ही बालक के वस्त्र बदले, विभूति लगाई, उसी समय भोजन मँगाया; बालक को कई उपवास हो चुके थे उसी दशा में साग, पूड़ी, अचार, चटनी, दूध जो कुछ भी था सब पेटभर खिलाया और अपने आसन के पास ही अमरनाथ को सुलाया। स्वयं समीप बैठकर ध्यानस्थ हो गए। दूसरे दिन फिर जूड़ी आ गई परन्तु भोजन का कोई दुष्परिणाम न दिखाई दिया।

एक दिन प्रातः उठकर अमरनाथ ने बताया कि आज रात में हनुमान जी आये थे अपनी पूँछ में लपेट कर जूड़ी को ले गए अब आज से जूड़ी न आयेगी। सत्य ही, उसी दिन से बालक का जूड़ी ज्वर चला गया। उसके दूसरे दिन मुझे ज्वर तथा जूड़ी के आगमन का आभास होने लगा, गुरुदेव को यह बात विदित होते ही उन्होंने विभूति लगा दी उसी क्षण मेरे शरीर की सारी वेदना शान्त हो गई किन्तु उसके पश्चात् मैंने देखा कि योगिवर के शरीर पर बहुत अधिक तापमान बढ़ रहा है, पता चला कि हम लोगों के सारे दोषों को गुरुदेव ने अपने ऊपर ले लिया है। किन्तु बिना किसी औषधि उपचार के जो कुछ जैसे अकस्मात् आया था वैसे ही चला भी गया। फिर तो मुझे अनेकों बार यह अनुभव हुआ कि सन्त सद्गुरु अपने भक्तों के कुल कष्ट अपने शरीर पर लेकर भक्त को रोगमुक्त कर दिया करते हैं। पाली में योगिराज जी ने नाना प्रकार की विचित्र लीलायें दिखाई।

इधर उधर से घूम फिरकर पाली को ही अपने विश्राम का स्थान बना लिया। धीरे–धीरे यहीं पर अनेकों शिष्य शरण में आये।

सन्त– सद्गुरु अपने शरणागतों का कितनी ही पतित दशा में देखते हुए भी त्याग नहीं करते–यह भी मैंने प्रत्यक्ष परमहंस जी के समीप रहकर देखा। शरण में आये हुए किसी व्यक्ति के आचरण की नीचता का अच्छी तरह पता लगने पर भी योगिराज ने उसका अनादर नहीं किया। चाहे कोई दुराचारी व्यभिचारी डाकू ही क्यों न रहा हो ये तो उस पर दया की ही वर्षा करते रहे।

यह सन्त भूलोक में रहते हुए अन्य लोकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते थे– अनेकों घटनाओं के द्वारा मुझे आभास मिला।

एक बार हम लोग बैठे थे, योगिराज ध्यानस्थ थे सहसा उसी दशा में बोल उठे कि देखो आकाश मार्ग से रथ जा रहा है उसमें दो मातायें (अलौकिक) श्रृंगार किये बैठी हैं और एक माता दूसरी देवी से मेरे विषय में संकेत कर रही हैं। यह इन्द्र के अखाड़े की देवियाँ हैं, इतना कहकर फिर ध्यानस्थ हो गए।

कभी शिव के ध्यान होने का वर्णन करते, कभी विष्णु का ध्यान होना बताते। कभी ऊपर से अमृत वर्षा का वर्णन करते थे कभी एक विश्व के बीच में एक खम्भे की ओट में छिपे हुए परमात्मा की महिमा बताने लगते।

जब परमहंस जी विष्णु का ध्यान करते थे तब उनकी छवि में अद्भुत स्निग्धमोहक सौन्दर्य छलकता सा रहता और जब शिव का ध्यान होता था तब तो नेत्रों में विचित्र भोलापन आ जाता था, इसके विरुद्ध कभी बहुत ही उग्र विकट रूप बन जाता था कि सन्मुख देखने का साहस न होता था। सन्त सद्गुरु महान होते हुए अपने को अनाथों, दीनों, दुःखियों की सेवा सहायता में कितना लघु बना देते हैं अर्थात् कितने छोटे–छोटे काम करने में संकोच नहीं करते यह भी मैंने अपने जीवन में अनुभव किया।

यह पहले बताया जा चुका है कि मेरा जीवन धनवैभव के मध्य में रहते हुए भी निराश्रित था। मेरे आसपास कोई भी ऐसा योग्य व्यक्ति न था जो मेरी गृहस्थी की नैय्या को भली प्रकार खेकर पार लगा देता। ऐसी अवस्था में इन समर्थ सन्त ने मेरी सभी जटिल समस्याओं को अद्भुत ढंग से हल किया। इन्हीं की कृपा से मेरी दो पुत्रियों के विवाह हुए। समय–समय पर आने वाले प्रारब्ध संकट सदा ही इन्हें दूर करने पड़े। प्रायः मेरे सभी बच्चों के ऊपर आई हुई व्याधियों को अपने ऊपर लेकर स्वयं अस्वस्थ हो जाते थे। बच्चों को, विभूति लगाकर भयानक रोग से मुक्त कर देते थे। पुनः दूसरों के लिये हुए क्लेशों को स्वयं भोग कर बिना औषधि उपचार के ध्यान योग के द्वारा ही अपने को स्वस्थ कर लेते थे। योग बल से भला क्या नहीं हो सकता था। योगी का सम्बन्ध अत्यन्त शक्ति के भण्डार परमात्मा से होता है, अतः योगी में अपरिमित शक्ति होती है।

सन्त महापुरुषों की बात का अर्थ सन्त ही समझाये तभी समझ में आता है।

एक बार प्रातः शयनासान से उठ ते ही मुझे पुकारा और गुरुदेव बोले कि 'अरे आज जो लड़ाई हुई उसे तूने समझो।' मैं बोली, नही महाराज, मैंने तो कुछ नहीं सुना, गुरुदेव बोले–अरे वह दो लाल साफा वाले आये थे हमसे बहुत विवाद हो गया। मैंने कहा महाराज, द्वार तो बन्द थे साफा वाले आदमी अन्दर कहाँ से आ गए। तब गुरुदेव ने स्पष्ट समझाया कि वे दूसरे लोक के सिपाही थे। हमें भी साधारण प्राणियों की तरह मृत्यु लोक से ले जाने के लिये आये थे, मैंने कहा कि 'तुम अजर अमर आत्मा को जो कि मुक्त स्वरूप हैं उसे अपने नियम से बाँध कर नहीं ले जा सकते।' इस पर उन्होंने कहा कि हमारा तो यह काम है कि संसार के जीवों को यहाँ से ले जाना–इस पर मैंने कहा कि 'हम तुम्हारे ले जाने से नहीं जायेंगे, अपनी इच्छा से जायेंगे। तुम हमें इस प्रकार नहीं ले जा सकते।' इस पर वे लोग यह कहकर चले गए कि अच्छा अब होशियार रहना, युद्ध होगा। उस समय इतना कहकर गुरुदेव ध्यानस्थ हो गए।

परमहंस जी के जीवन में शरीर के प्रति जैसी कुछ प्राणनाशक घटनायें देखीं उससे यह ज्ञात हुआ कि भूलोक की सीमा में रहने वाले साधारण जीवों को तो अज्ञात रूप में ही मृत्यु के दृत कर्म नियम से बाँधकर ले जाते हैं परन्तु योगियों के ऊपर इनका नियम लागू नहीं होता तभी यह युद्ध करते हैं। जैसा कि मैंने देखा कि उस दिन ध्यान

में इस प्रकार की पारलोकिक वार्ता के पश्चात् काल के दूतों ने युद्ध की सूचना देकर कुछ दिन में ही शरीर पर अचानक आद्यात किया जो कि पक्षाघात रोग के समान प्रतीत होता था। जाड़े के दिन थे अकस्मात एक ग्राम में भक्तों के साथ जाते हुए मुख, नाक टेढ़ा हो गया जिह्वा बढ़ गई बहुत ही कष्टकर दशा थी परन्तु परमहंस जी तो इस रहस्य को समझते थे बहुत ही गम्भीरता, धैर्यपूर्वक अपने ध्यान योग से इस आद्यात के परिणाम को तीन चार दिन में ही दूर कर लिया पूर्ववत् स्वस्थ हो गए। अपने एक भक्त दुल्ला सिंह से बताया कि यह कोई बीमारी नहीं है यह तो काल से युद्ध चल रहा है।

कुछ ही समय पश्चात् स्वामी जी महाराज के पेट में पीड़ा होने लगी, भोजन छूट गया बहुत विकट वेदना थी जैसे कोई अदृश्य तीरों से मर्मस्थानों को बेध रहा हो परमहंस जी कष्ट का वर्णन करते हुए बहुत ही गम्भीर शान्त थे। कभी–कभी मुझसे कह देते थे कि 'देख कितने वेग से ऊपर से बाण आ रहे हैं। कितना कष्ट देकर हमारा ध्यान तोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।'

इसी दशा में गुरुदेव पाली से असोथर गए वहाँ रहकर अपने उपायों से शरीर को सम्हाल लिया।

कुछ समय भले प्रकार बीता, यत्रतत्र भक्तों के आग्रह वश भ्रमण करते रहे। पुनः अचानक रक्त के दस्त होने लगे उस समय गुरुदेव ग्राम शिमली में विराजमान थे। मैंने वहीं जाकर दर्शन किये। उस

समय नित्य साठ सत्तर बार शौच में रक्तस्त्र ही होता था। मुझे यह सदा स्मरण रहेगा कि सन्त महापुरुष कितने कष्ट सहिष्णु होते हैं। सत्य ही है कि बड़ी–बड़ी विपत्तियों को सन्त महात्मा धैय्र से सहते ही रहते हैं।

एक दिन फतेहपुर से मोटरकार लेकर भक्त बद्री प्रसाद, स्वामी जी को फतेहपुर लाने के लिए पहुँचे। परन्तु थोड़ी–थोड़ी देर में ही शौच जाना पड़ता था ऐसी दशा में साथ रहने वाले शिष्यों ने स्वामी जी को यात्रा करने को मना कर दिया उस दिन तो मान गए, मोटर लौट गई और दूसरे दिन बैलगाड़ी और रेलगाड़ी से यात्रा करते हुए फतेहपुर पहुँचे। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस दिन कई घंटे मार्ग में सफर करते हुए एक बार भी शौच के लिये न जाना पड़ा। इससे यह पता चला कि योगियों की संकल्प शक्ति में सभी प्रकार का स्तम्भन बल होता है। फतेहपुर तक मैं भी साथ आई वहाँ आकर मुझे गुरुदेव ने पाली लौट जाने को कहा किन्तु मैंने हठ किया कि आपको अस्वस्थ छोड़ कर मैं अभी न जाऊँगी। मेरा हठ देख योगिराज चुप होकर लेट गए। वहीं पर अन्य सब भक्त बैठे थे उसी समय मुझे ऐसा दीख पड़ा कि अगाध समुद्र भरा हुआ है दूध का , उसमें स्वर्णवत सुन्दर तरंगें उठ रही हैं, उस समुद्र में सूर्य के समान गोल चक्र घूम रहा है और उसी चक्र में महातेजस्वी एक माता दिखाई दी, माता के शीश पर मुकुट है, उनका अद्‌भुत रूप देखकर संसार का ज्ञान भूल गयी, उस अलौकिक रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। माता की

गोद में गुरुदेव लेटे हुए दिखाई दिए और गुरुदेव का शरीर (उस माता की गोद में) वाल्यावस्था में ही प्रतीत हुआ। माता आसन लगाये बैठी थीं और गुरुदेव के शरीर पर अपना सुकोमल हाथ फेर रही थीं साथ ही अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक मुस्करा रही थीं। इस प्रकार गुरुदेव भगवान ने दो घन्टे तक यह अभूतपूर्व दर्शन कराये। इनकी ही कृपा से मुझे यह दर्शन हो रहे थे। इधर गुरुदेव ने नेत्र खोले करवट ली, थोड़ी देर में उठ बैठे और पुनः ध्यान में तल्लीन हो गए।

समय बीतने पर मैंने गुप्त दृष्टि से दीखने वाली माता के विषय में पूछा कि वह कौन थीं, गुरुदेव ने उत्तर दिया– वह हमारी माता हैं। इस प्रकार के दर्शन कराने का अर्थ यही था कि गुरुदेव ने उसी समय से उस व्याधि से अपने शरीर को मुक्त कर लिया। मैं भी पाली लौट आयी। कुछ दिन पश्चात् अठसराय में गुरु पर्व का सुअवसर आया। बहुत दूर–दूर के श्रद्धालु प्रेमी एकत्रित हुए। उस महोत्सव में ही परमहंस जी के पैर में अचानक पीड़ा पैदा हो गई यह भी ऊपर से भी आकस्मिक प्रहार था।

यह वेदन ऐसी थी कि दिन पर दिन महीने पर महीने बीतने लगे। भक्तों ने आग्रह करके अनेकों उपचार किये किन्तु किंचित भी लाभ न हुआं भला दैवी युद्ध का कष्ट कहीं सांसारिक औषधियों से जीता जा सकता है। गुरुदेव इसी दशा में चारों ओर भक्तों के यहाँ जाकर दर्शन देते रहे। बीच–बीच डाक्टरों ने अपनी सारी शक्ति पैर के दर्द दूर करने में लगा दी किन्तु सफल न हो सके अन्त में गुरुदेव

ने सबको समझाया कि तुम्हारे उपायों से यह कष्ट दूर नहीं हो सकता यह काल का युद्ध है अपने ही प्रयत्न से इसकी निवृत्ति होगी। अन्त में सबसे छुट्टी पाकर पाली आकर गुरुदेव ने कहीं भी न जाने का निश्चय प्रकट किया। प्रेमी लोग दर्शनार्थ पाली में ही आने लगे। इधर गुरुदेव धीरे–धीरे युक्तिपूर्वक सबको ऐसे ढंग से समझाने लगे जिससे कि भक्त लोग शरीर से मोह न करके आत्मा के ध्यान को ग्रहण करें। प्रायः गुरुदेव प्रेमियों से यही कहते कि अरे यह शरीर ठूठ है इससे मोह न करना चाहिये आत्मा–परमात्मा ही सत्य है उसी से प्रेम करो और सब झूठ है। आत्मा अविनाशी है शरीर को छोड़ देने पर वही नहीं मरती उसी को पकड़ो।

उन्हीं दिनों कपूर्थला के राजा साहब गुरुदेव के दर्शन करने आये। कोई–कोई भाग्यशाली धनी मानी पुरुष तीक्ष्ण बुद्धि के पारखी हुआ करते हैं–राजा साहब परमहंस की तेजोमय–भव्य मूर्ति को देखते ही बोले कि ''महाराज आप उत्तराखण्ड में रहने वाले योगी इन महलों में कैसे आ गए, मुझे तो बहुत आश्चर्य होता है। आपके मुझे यहाँ दर्शन कैसे हो रहे हैं? यहाँ रहने का कारण क्या है? राजा के यह गूढ़ार्थ भरे वाक्य सुनकर गुरुदेव कुछ मुस्कराये और बोले कि इस लड़के (अमरनाथ) का पहरेदार बनकर यहाँ आ गया था। पूर्व जन्म का कुछ ऐसा ही संयोग है। राजा चुप हो गए। अपने कुछ प्रश्नों का एकान्त में उत्तर पाकर चले गए। इ सी प्रकार नित्य ही अनेकों निर्धन तथा कितने ही धनी मानी दर्शक आते जाते रहते।

परमहंस जी संसार की ओर से मान बड़ाई से बचते रहने के लिये और पूर्णरूपेण अहंकार अभिमान रहित होने के कारण कभी अपनी ओर से चमत्कारों का प्रदर्शन न करते थे, किसी प्रकार की अलौकिक बातों या भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन संदिग्ध शब्दों में संकेत मात्र कर देते थे। एक दिन मुझे बुलाया और कहने लगे कि देख! ''आज मैंने ध्यान में देखा है कि एक बड़ा से विमान है, सुन्दर फूलों से सजाया गया है उसी में मुझे लिटा कर सब प्रेमी भक्तों ने अपने सर पर उठाकर एक चने के खेत में ले जाकर रखा और हमारे शरीर का अग्नि संस्कार किया है। गृहस्थ भक्तों की बड़ी भीड़ एकत्रित है किन्तु साधु केवल चार ही हैं– (रतननिधि, सुकदेव, ईश्वर और चतुरवैन) सभी लोग विलाप करते हुये यहाँ दुःखी हो रहे हैं।'' इतना कहकर फिर ध्यानस्थ हो गए। उस समय इसका अर्थ कुछ–कुछ तो समझ में आया किन्तु यह कैसे विश्वास किया जा सकता था कि सत्य ही ऐसा होगा। मुझे कुछ चिन्तित देखकर दूसरे प्रकार से समझा दिया कि 'अरे हमें तो अन्त में कैलाश जीतने के लिए अभी तप करना है लक्ष्मी जी से यह वरदान मिला है, हमें कुछ भी नहीं होगा।' मुझे ऐसे वाक्य सुनकर कुछ निर्णय करने का साहस न हुआ।

एक दिन अकस्मात बहुत ही तीव्र ज्वर का आक्रमण हुआ। हम लोगों को यह विश्वास हो गया था कि यह दैवी युद्ध है। डाक्टर वैद्यों का उपचार काम नहीं दे सकता, इसीलिये इलाज के लिये कुछ कहने

का स्थान ही न रह गया था कुछ ही समय में सहसा उस युद्ध का गुरुदेव वर्णन करने लगे कि रुक–रुक कर शरीर के मर्म स्थानों में बहुत तीक्ष्ण शर ऊपर से बीधे जा रहे हैं।

उस वेदना को कितने धैर्य से परमहंस जी सह रहे हैं–यह मैं कुछ–कुछ तो अनुभव कर ही रही थी। किन्तु धन्य है तप का बल। योगीराज इस संकल्प पर दृढ़ हैं कि हम काल के शासन में नहीं हैं, इसका भेद आगे खुला कि काल का अधिकार कहाँ तक होता है।

गुरुदेव वर्षों प्रथम से यह वाक्य कहा करते थे कि अन्त में हमें शंकर को जीतना है कैलाश जाना है– इसका अर्थ अब स्पष्ट हुआ कि यह युद्ध शंकर भगवान की ओर से ही था। अदृश्य रूप में कई दिन यह युद्ध लगातार चलता रहा। एक दिन परमहंस जी कुछ विशेष सावधान होकर ध्यान में बैठ गये रात्रि का समय था सबको हटा दिया। कुछ ऐसी माया फैला दी कि सब के सब सारी रात सोते ही रह गए। प्रातः स्वयं गुरुदेव ने आवाज देकर मुझे उठाया। सारी रात सोते रहने का स्मरण होते ही मन में खेद हुआ। गुरुदेव के सम्मुख आकर अपराध की क्षमा माँगी परन्तु जहाँ किसी अपराध की प्रतीति ही न हो वहाँ करने की बात ही क्या चले। गुरुदेव ने प्रसन्न चित्त से अपनी बात कहनी आरम्भ की। गुरुदेव बोले– ''वे ही लोग जो पहले आये थे–तब तो सीस की तरफ खड़े हुए थे, तब दो जने थे और आज अकेले ही आये, मेरे सामने खड़े रहे।'' इतना कहकर प्रसन्न चित्त दूसरे आसन पर जाकर बैठे, आश्चर्य की बात थी कि इतना

घोर कष्ट अचानक ही आज कहाँ चला गया। न तो पैर में पीड़ा है न ज्वर है न कोई अन्य वेदना है। तीन वर्षों से एक न एक दुःख वेदना का प्रहार चलता ही आ रहा था किन्तु आज तो अद्‌भुत विश्राम की दशा झलक रही थी। एक विचित्र बात यह थी कि गुरुदेव के दर्शनार्थ जितने भक्त इन दिनों आ रहे थे उनके साथ कुछ ऐसी बातें कर देते थे जैसे कि स्वयं कहीं की तैयारी कर रहे हों। यह भासित होता था कि अब बहुत दिनों के लिये विछोह होने वाला है।

इन्हीं दिनों में एक रात को मैंने देखा गृह द्वार के बाहर एक पलँग पड़ा है पश्चिम की ओर सिर किये गुरुदेव लेटे हैं, मैं पास ही खड़ी देख रही हूँ, उसी समय घर के भीतर से एक दिव्य रूप में महात्मा निकले उनके मुख में अद्‌भुत सौन्दर्य है एक चादर ओढ़े हैं, वे भगवान गुरुदेव के दाहिनी ओर आकर खड़े हो गए और कहा कि देखो माता अत्यंत दुःखी हैं, गुरुदेव को मौन देखकर पुनः यही वाक्य कहे, इतने में मैं देखती हूँ कि आकाश में एक माता बैठी हैं उनके केश खुले हुए हैं, सफेद वस्त्र हैं अपने हाथों से अपनी छाती पीट रही है और आँखों से अश्रु नहीं बल्कि चिनगारियाँ सी निकल रही हैं। साथ ही उनके मुख से बहुत ही करुणा पूर्ण स्वरों में यही शब्द निकल रहा है कि हाय तुमने वहाँ बड़े दुःख पाये। माता की ऐसी व्याकुलता देखकर मेरा हृदय भय से काँप उठा और तत्क्षण मैं भगवान गुरुदेव से कहने लगी कि अब आप यहाँ से जल्दी जाओ। तीन बार मैंने यही कहा। अब वे महात्मा दाहिनी ओर से बाँई ओर

आये और कहने लगे कि पहले आपके लिए सवारी भेजी जा रही थी किन्तु फिर सवारी न भेजकर इनको भेजा इतना कहकर अपनी चादर उतार डाली। उस चादर के भीतर से एक बहुत ही सुन्दर कन्या निकली उसे देखते ही भगवान गुरुदेव उठ बैठे अपने दिगम्बर शरीर में उस कन्या को दाहिनी जाँघ पर बिठा लिया। उसी क्षण गुरुदेव का और उस कन्या का तेज बढ़ने लगा इतना अधिक तेज बढ़ा कि गुरुदेव का रूप विलीन हो गया, संसार का आकार मिट गया, केवल तेज ही तेज रह गया। यह सब अलौकिक दृश्य देखते–देखते मुझे वाह्य चेतना हुई आँख खुली तो अपने को शयनासन में पाया। मैंने इसका अर्थ गुरुदेव से पूछा तब गुरुदेव ने बताया कि वह माता लक्ष्मी जी हैं तथा कन्या आदि शक्ति थी साथ में वह महात्मा के रूप में परमात्मा शिव थे और वह चादर तीन लोक चौदह भुवनों की चादर है।

उस समय मैंने उठकर स्नान किया तत्पश्चात् लेट गई। लेटते ही मुझे फिर वही दृश्य दिखाई देने लगा। इस बार उस विश्वव्यापी तेज में गुरुदेव जाते हुए दिखाई दिये जाते–जाते उसी तेज में अदृश्य हो गए। जिस समय मुझे लेटे हुए यह दृश्य दीख रहा था उसी समय गुरुदेव भगवान स्थूल शरीर को छोड़कर चल चुके थे। अचानक पास में रहने वाले एक शिष्य की तेज आवाज सुनाई दी मैं चौंक पड़ी, उठी तो देखा कि गुरुदेव का स्थूल शरीर मात्र शिष्यों के हाथों में रह गया है और वह महान आत्मा सत्य ही परमात्मा के अनन्त तेज में

तन्मय हो गई। फिर क्या था मेरी दृष्टि के आगे वह दिव्य तेज तो ओझल हो चुका था, सामने रह गया था केवल सूना सा संसार और उसका अनुभव करने वाला मेरा हृदय, अत्यंत व्यथित हृदय।

कुछ वर्षों के भीतर ही मैंने सन्त सदगुरु की महती दया का तथा उनकी विचित्र प्रकार की शक्तियों का जो कुछ अनुभव किया उसका पूरा वर्णन तो हो नहीं सकता। मैंने देख लिया कि सन्त सदगुरु अपनी शक्ति से शिष्य को इस भूलोक से ही अन्तर्गत का अर्थात् लोक लोकान्तरों की शक्तियों का दर्शन करा सकते हैं। मैंने जिस समय जो कुछ देखा वह इन्हीं के दिखाने पर ही देखा इन्हीं की इच्छा थी तभी देखा। अनेकों दर्शन ऐसे हैं कि उनका अर्थ कुछ समय बीतने पर मालूम हुआ। जब जो कुछ हास्य विनोद के रूप में कहा वही आगे होकर रहा। कितने समय पूर्व गुरुदेव ने कहा था कि चने के खेत में शिष्यों ने मेरे शरीर का अग्नि संस्कार किया है, गुरुदेव ने जिस प्रकार बताया था आगे चलकर हम सबने देखा कि उसी प्रकार विमान सजाया गया उसी चने के खेत में शरीर का अग्नि संस्कार हुआ और उसी स्थान में समाधि मन्दिर बनाया गया। भक्त दुल्ला सिंह से कहा था कि तुम्हारे गाँव के बाग में तप करूँगा वहीं समाधि बन जायगी। उस समय किसे पता था कि सत्य कह रहे हैं पर अब दिखाई दे रहा है कि उसी जंगल के बाग में गुरुदेव की दूसरी समाधि बनी हुई है। जैसा कि गुरुदेव कहा करते थे कि मैं कहीं न जाऊँगा आत्मा अविनाशी है, अब मुझे प्रतीत हो रहा है कि वे हम सब

के निकट ही हैं और अपने अविनाशी रूप से हैं– जिसका परिचय अब भी समय–समय पर मिला करता है। अब भी ध्यान करने पर प्रार्थना करने पर तदनुसार उत्तर मिलता है। हम लोग आज भी इनकी कृपा का अनुभव कर रहे हैं। कह नहीं सकती कि मुझे ऐसे महान सन्त के दर्शन का सुयोग किन पुण्यों से सुलभ हुआ। मैंने अपने प्रति सन्त की जिस असीम दया, कृपा एवं करुणा का दर्शन किया, सन्त के ह्रदय को जितना उदार तथा विशाल मैंने अनुभव किया, सन्त की शक्ति सामर्थ्य अथवा कार्य कुशलता और कष्ट सहिष्णुताउ जिस रूप में मैने देखी उसका वर्णन करते हुए भी मैं पूर्ण रूप से कर नहीं सकती। मैं तो इतने ही सौभाग्य पर फूल उठती हूँ कि मुझ अभागिनी को भी ऐसे महान सन्त का दर्शन, सन्त की कृपा का इतना अधिक सुयोग प्राप्त हुआ।

मैंने भी अपने जीवन में सन्त दर्शन किये–कितना सन्तोष होता है इसकी अनुभूति में। किन्तु सन्त सदगुरु की सेवा का अधिकार तो अपूर्ण ही रहा। अभी तो मुझे सन्त की सेवा का यथोचित ज्ञान भी नहीं हो सका, यह भी सन्त सदगुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। अभी तो मुझे सन्त दर्शन का ही अवसर मिला है, आगे क्या–क्या मिलेगा यह तो देने वाले परमदाता सन्त सदगुरु ही जानते हैं।

!! बोलो सन्त भगवान की जाय !!

समर्थ सन्त पापहारी होते हैं

(अनुभवकर्ता साधु रतननिधि जी)

मैंने जहाँ तक सन्त–सदगुरु की समीपता और इनकी महती दया प्राप्त की वहाँ तक तो अपने जन्म–जन्म के संचित पुण्यों का फल मानता हूँ।

सन्त सदगुरु की शरण में अपने का सुअवसर मुझे अपने बाल्यकाल में ही मिल चुका था। प्रथम उपदेश में ही मुझे मन्त्रजप की प्रेरणा मिली। जब मैंने घर छोड़कर साधु होने की प्रार्थना की तब सन्त ने अस्वीकार किया और उसी समय बता दिया कि 'तुम्हारी शादी होगी, दो लड़के होंगे, बाद में स्त्री मर जायगी तब साधु होना।' यह भी कह दिया कि 'हमारी बात न मानकर साधु बनोगे तो दुःख उठाओगे।'

सन्त के कथनानुसार ही ठीक समय पर मेरा विवाह हुआ दो बच्चे भी पैदा हुए। गृहस्थी के बन्धन से मेरा जीवन घिर गया। एक दिन इतना जी घबराया कि घर छोड़कर भाग निकलने का संकल्प करने लगा उसी दिन सन्त सदगुरु ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि 'आज तुम तो घर से निकल भागने की सोच रहे थे सो ठीक नहीं। घर में पत्नी है, छोटे–छोटे बच्चे हैं; उनको छोड़ना अपराध होगा। घर में ही ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर परमात्मा का भजन करो।

मेरे पेट में आँत उतरने का रोग हो गया मेरा मन बहुत दुःखी रहने लगा सन्त सदगुरु ने इसी दशा में अधिक से अधिक भजन जप करने की आज्ञा दी। मेरा उदर–रोग इतना कष्टप्रद हो गया कि जीवन से निराश होकर सन्त की शरण ली। आश्चर्य की बात है कि सन्त सद्‌गुरु के समीप आते ही, उनका दिया प्रसाद पाते ही, विभूति लगाते ही मेरा कष्ट दूर हो गया तभी मैंने अनुभव किया कि सन्त पापहारी होते हैं।

जब मेरा शरीर गृह कार्य के योग्य न रह गया तब सद्‌गुरु ने अपने समीप ही मुझे रख लिया कुछ समय बाद मुझे मोह ने सताया साथ ही परिवार के लोगों ने घर में रहने को विवश किया, मैं पुनः अपने घर में रह गया तो यह भी आश्चर्य की बात है कि सद्‌गुरु की समीपता से हटते ही मुझे पुनः पेट के रोग ने दबा लिया और वह तभी दूर हो सका जब गुरुदेव के निकट आकर फिर रहने लगा और बार बार अनुभव किया कि सन्त पापहारी होते हैं।

शरीर में किसी प्रकार की व्याधि का होना पाप का परिचय है। पाप से ही रोग आते हैं। सन्त ने मेरे रोग जनित दुःख को दूर किया साथ ही जिस शरीरिक व्याधियों के कारण को आधि कहते हैं, (आधि मानसिक रोग है) उसे दूर करने के लिये सन्त सद्‌गुरु ने मुझे जो उपदेश दिये वह नित्य स्मरणीय है।

सन्त के सारगर्भित उपदेश

साधु वेश में मुझे सज्जित करके गुरुदेव ने बताया कि 'यह वेश शिवजी का है पहले से ही ऋषि मुनि जटा रखते आये हैं तुम भी जटा रखो भभूत लगाये रहो। भभूत लगाने से माया नहीं लगती।

इस संसार में न कोई किसी का लड़का है न कोई बाप है। सब जीव अपने अपने कर्मवश मिलते हैं और फिर अलग हो जाते हैं जैसे कि नदी में हवा के रूप संयोग से लकड़ियाँ कभी एक दूसरे से मिलती हैं, कभी अलग हो जाती हैं।

तुम साधु हो गये, मुँह में राख लपेट ली, तो समझ लो, दुनिया से मुँह काला कर लिया फिर किसी की गाली की या स्तुति की परवाह न करो।

अपने को मुर्दा के समान मान लो। मुर्दा को कोई गाली दे, मारे तो मुर्दा कुछ नहीं बोलता उसी तरह तुम भी हो जाओ। न किसी से दोस्ती करो न दुश्मनी रखो।

साधु होने का अभिमान न करो। अपने को ईश्वर का एक बन्दा समझो। अधिक बात भी न करो, कोई बहस करे तो कह दो 'मैं कुछ नहीं जानता। एक राम नाम का जप करता हूँ।'

जो कुछ भी कोई कहे अपने को बचाने के लिये झूठ सच में 'हाँ' 'हूँ' कह दिया करो; कुछ उत्तर न दो। चारपाई पर न सोवो।

मामूली मोटा कपड़ा पहनो। रात को उठकर भजन, जप करो हल्की नींद सोवो। गहरी नींद सोने वालों के यहाँ चोर घुसते हैं। भोर में चार बजे से उठकर जप करो। कोई भी नशा न करो। पान, सुपारी तम्बाकू भी न खाओ। शरीर देखोगे तो भजन नहीं होगा। एकान्त में सोया करो, किसी के बीच में न सोवो।

जहाँ जब कोई रूखा सूखा भोजन दे वहीं खुशी से उसे खा लो। भोजन करके भजन करो।

'रूखा सूखा खाइके ठंडा पानी पीव।
देख पराई चूपड़ी मत ललचावे जीव।।'

अधिक कपड़ा न रखो। शौकीनी न करो। दोपहर को कलयुग आ जाता है इसलिये दोपहर को भी भजन करो। बस्ती में रहो। घर के भीतर न रहो।

बस्ती के समीप कुआँ के पास ठहरो। वृक्ष की साया में रहो। बरगद के नीचे, आँवले के नीचे, पीपल के नीचे जप करने का अलग–अलग फल होता है।

भक्तों के यहाँ घर में न रहो। भक्तों के यहाँ रहने से भक्त लोग अपने जैसा बना लेते हैं।

भोजन एक बार करो। खूब डटकर भजन करो। मन का मौन धारण करो। सबसे अलग रहो किसी के संग में न पड़ो।

तुम गाने बजाने में न पड़ो यह सब माया में फँसाने वाली बाते हैं तुम अलग जाकर भजन करो। घूमने से भजन नहीं होता इसलिये एक जगह में बैठकर भजन करो।

सब जीवों में ईश्वर का वास है किसी जीव से घृणा न करो दुःख न दो।

एक छोटी आत्मा है दूसरी बड़ी आत्मा (परमात्मा) है बीच में माया है। भजन ध्यान से बीच की माया हटती है तभी छोटी आत्मा परमात्मा से मिलती है।

भगवान को ही सब कुछ समझो। सब में भगवान को देखों सब कुछ भगवान का समझो अपना कुछ नहीं है। भगवान की गति भगवान ही जानता है। उसका अन्त किसी को नहीं मिला।

अपने में किसी जीव को घुसने न दो, किसी से मोह न करो। अपने आसन में किसी को न बिठाओ। भीतर से सब जीवों पर दया रक्खो बाहर से कड़ी नजर रखो। दुःखी की सेवा करो।

हृदय में ध्यान रखो या त्रिकुटी में ध्यान करो। एक आत्मा ही सदा पवित्र है, शरीर को न देखो आत्मा को देखो।

अच्छी वस्तु अपने पास न रखो, ऐसी वस्तु रखो जिसे कोई लेने की इच्छा न करे।

तीर्थों में भ्रमण न करो वहाँ पण्डे दिक करते हैं। एक स्थान में जमकर भजन करो तीर्थों में घूमने से कुछ न मिलेगा। रामायण पंच ग्रन्थी और ब्रज वाणी का पाठ करो। पार्वती की भाँति तप करो।

सन्त सद्गुरु की गुप्त कृपा

सन्त सद्गुरु अपने प्रत्यक्ष शरीर के द्वारा शरणागतों पर कृपा दया तो करते ही थे उसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से भी समयानुसार रक्षा तथा आश्वासन आदेश किया करते थे। आज भी हम लोगों पर इनकी कृपा दृष्टि रहा ही करती है।

एक बार स्वप्न में गुरुदेव को दण्डवत किया तब गुरुदेव ने कहा कि इस ठूठ को दण्डवत करने से क्या होगा, आत्मा को पहिचानो उसे दण्डवत करो।

एक दिन मैं प्रार्थना करके सोया तो उसी रात को खूब भजन करने का उपदेश दिया। एक दिन मैं बहुत ही अधीर हो रहा था, अपने को बहुत धिक्कारता रहा, सोचता रहा कि मैं तप तथा योगाभ्यास कुछ करने योग्य नहीं हूँ, उसी रात में गुरुदेव ने दर्शन देकर समझाया कि जप भजन से ही सब कुछ हो सकता है। खूब जप करते रहो।

एक दिन मेरे मन में चारों धाम करने की इच्छा हुई उसी रात को गुरुदेव के दर्शन हुए और तीरथ जाने को मना किया। एक बार

पाली से बरई चला गया था उसी रात में स्वप्न में आज्ञा दी कि 'यहाँ क्यों चला आया? फिर पाली चला जा।'

एक दिन स्वप्न में दर्शन देकर पूछा कि क्या जीवन चरित्र लिख गया? मैंने कहा– हाँ लिख गया तब गुरुदेव ने बताया कि स्थान का नाम तो उसमें दिया ही नहीं गया। सत्य ही जीवन चरित्र में स्थान का नाम नहीं था।

एक बार हमें स्वप्न में गुरुदेव ने चार पाँच रूपों द्वारा बदल बदल के भ्रमण कराया और समझाया कि देख तुझे यह चार पाँच जन्म और धारण करने पड़ते परन्तु अब हमने तुझको एक ही जन्म में इन जन्मों से छुड़ा दिया। अब तुम्हें जन्म न लेना पड़ेगा।

एक बार मैं अपने देश से गुरुदेव के दर्शन करने आया दूर से ही जब स्वामी जी के ठहरने के स्थान को देखा तो मुझे छत के ऊपर गुरुदेव खड़े दिखाई दिये और दूसरा रूप मैंने नीचे तख्त पर बैठे देखा। जब रात को वहाँ से चला तो एक रूप आगे आगे चलते देखा और दूसरा रूप बगल में भी दिखाई दिया।

एक बार मैं अस्वस्थ हो गया, मरणासन्न दशा में पहुँच गया था बेहोशी दशा में ही मुझे प्रतीत हुआ कि गुरुदेव आये और हमारे ऊपर हाथ फेरते हुए कहा कि सब ठीक हो जायगा। उसी दिन मेरी पीड़ा ठीक हो गई।

एक बार कुछ अस्वस्थ होने के कारण मैंने दस दिन से स्नान नहीं किया था। शरीर पीला हो रहा था गुरुदेव के दर्शन हुए, मेरी दशा देखकर कहा ''जा तालाब में स्नान कर ले बीमारी दूर हो जायेगी।'' मैंने तालाब में स्नान किया और उसी दिन से स्वस्थ हो गया। इन्हीं सब विशेषताओं को देखकर अपने जीवन में मैंने प्रत्यक्ष समझ लिया कि सन्त पापहारी होते हैं। प्रगट रूप से और गुप्त रूप से दुखियों पर दया करते रहते हैं।

सन्त का अद्भुत सामर्थ्य

(संदर्शक महन्त श्री केवल करण जी उदासीन–अठसरांय कुटी)

मुझे गुरुकृपा से ही सन्त– **समर्थ सन्त**

पापहारी होते हैं

(अनुभवकर्ता साधु रतननिधि जी)

मुझे गुरुकृपा से ही सन्त–सद्गुरु में अनेकों प्रकार की सामर्थ्य का अनुभव हुआं मैं अपने अनुभवों के प्रसंगों का स्पष्ट वर्णन तो नहीं कर सकता, फिर भी दो चार घटनाओं द्वारा सन्त के सामर्थ्य का दिग्दर्शन पाठकों के सामने रख रहा हूँ।

न जाने कितने जन्मों के पुण्य फल से सन्त– सद्गुरु की समीपता सुलभ हो चुकी थी। उनके समीप से हटने की कभी इच्छा न होती थी फिर भी प्रारब्ध वश कभी–कभी उनकी समीपता से शरीर को अलग होना ही पड़ता था।

एक बार गुरुदेव बदरीनारायण की यात्रा को चल पड़े। मैंने भी साथ चलने की प्रार्थना की, किन्तु कारणवश स्वीकार न हुई। मुझे दुखी देख गुरुदेव ने आश्वासन दिया कि ''जाओ तुम्हें बदरीनारायण के घर बैठे दर्शन हो जायेंगे।''

एक दिन मैं बैठा हुआ मध्यान्ह में जप कर रहा था; नेत्र बन्द थे, ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी ने यह कहते हुए—ले बदरीनाथ के दर्शन कर—मेरे जोर से तमाचा पीठ में मारा उसी समय मेरे सामने से किशोर अवस्था में एक दिव्य मूर्ति की झलक दिखाई देकर लुप्त हो गई और मैंने झिझक कर आँख खोल दी। उसी क्षण स्मरण हो आया—यह सन्त का सामर्थ्य है।

एक बार गुरुदेव ने मुझे किसी कार्य से करविगवाँ भेजा। गरमी के दिन थे दोपहर हो रही थी, मार्ग में छोटा सा जंगल मिला उस जंगल में कहीं भी रीछ, शेर, चीते नहीं रहते परन्तु ऐसा प्रतीत हुआ कि एक ओर रीछ खड़ा हुआ है। मैं भय से पहले तो घबरा गया कुछ दूर भाग पड़ा परन्तु अपनी इस प्रकार की भयातुरता पर लज्जा आइ तब खड़ा हो गया।

साधु वेष में पथिक का संक्षिप्त परिचय

आपके शरीर का जन्म कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में सम्वत 1935 में हुआ था। आपके पिता जिला फतेपुर ग्राम–बकेवर के रहने वाले थे। कालान्तर में वह जाकर ग्राम–साढ़ जिला कानपुर में रहने लगे। आपकी बाल्यावस्था ननिहाल में व्यतीत हुई। वहीं पर कुछ शिक्षा प्राप्त की। आपको बचपन से देवी–देवताओं पर पूर्णतः विश्वास था। आपके माता–पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आप ग्राम के बाहर भूँधरा खोदकर तप करने लगे। इस अवस्था में भी अनेक लोग आपके दर्शन करने आया करते थे।

बाल्याकाल से ही किसी से उपदेश सुने बिना भगवान के नाम जप स्मरण में विश्वास था। आरम्भ से ही एक परमहंस अवधूत सन्त में श्रद्धा हो गयी जो नग्न ही घूमते थे। कोई वस्त्र न रखते थे। स्नान के पश्चात खाक लगा के जल सुखाते थे। उसे विभूति कहते थे।

गुरु महाराज ने आपका नाम ''पलकनिधि'' रखा था। वैसे आस–पास के गाँव के लोग आपको ''ब्रह्मचारी'' कहा करते थे। सीतापुर में आपने बहुत

समय तक तप किया। नदी किनारे पर्ण कुटी बनाकर आपने तप किया। उस समय आप टाट का ही अचला, लंगोटी, बिछाने ओढ़ने के लिये भी आप टाट का ही प्रयोग करते थे। चना, गेहूँ को फुलाकर खाते थे।

पूर्व जन्मों के संस्कारों से प्रेरित होकर सब कुछ छोड़कर साधु वेश में विचरण करते हुए अनेकों कविताएं लिखीं। एकान्त सेवी होने के कारण पद्य के साथ साथ गद्य लिखना आरम्भ हुआ। लगभग पैंसठ पुस्तकें छपी। मान प्रतिष्ठा पूजा भेंट से सदा विरक्त रहकर विचरण करते हुए आध्यात्मिक विचारों का समाजव्यापी प्रचार बढ़ता गया, विचारों की प्रधानता से विचारक समुदाय की वृद्धि होती गयी। 'साधु वेष में एक पथिक' नाम से कल्याण में लेख छपते रहे। आपने अठसराय में नागा निरंकारी विद्यालय बनवाया और जिला कानपुर ग्राम–साढ़ में भी आपने विद्यालय बनवाया है।

ज्येष्ठ–शुक्ल पंचमी तदनुसार 10 जून 1997 को परमार्थ आश्रम हरिद्वार में आपका शरीर पूर्ण हुआ और वहीं पर भव्य सन्त पथिक समाधि मन्दिर बना है।

पेज–159